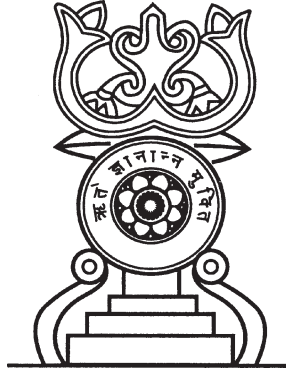


एकेडेमाॅस 2015

विद्या एवम् कौशल से परिपूर्ण
विभिन्न विषयों से सम्बद्ध एक वार्षिक संग्रह



कमला नेहरू कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय

अनुक्रमणिका

1. सम्पादकीय 3
2. महादेवी वर्मा की नारी चेतना-**डॉ. मधुरिमा कोहली** 5
3. प्रसाद के साहित्य में संस्कृति की अनुगूँज-**डॉ. सीता बिम्ब्राँ** 17
4. युद्ध का संदर्भ: भाषा और साहित्य की भूमिका-**डॉ. विभा गुप्ता** 35
5. भारतीय साहित्य और राष्ट्रीय चेतना-**डॉ. मंजू गुप्ता** 53
6. सामाजिक न्याय और स्त्री सशक्तीकरण की पृष्ठभूमि में डॉ. बी.आर. अम्बेडकर का योगदान हिन्दी दलित साहित्य के परिप्रेक्ष्य में
-**डॉ. रजत रानी मीनू** 71
7. भूमंडलीकरण और मीरा सीकरी की कहानियों का समाज
-**डॉ. रीता सिन्हा** 82
8. 'चाकलेट' और नैतिकता का सवाल : अंतिम फैसला महात्मा गांधी का
-**डॉ. साधना अग्रवाल** 92
9. डॉ. कमला पाण्डेय कृत रक्षतगङ्गम् महाकाव्य में पर्यावरण
-**डॉ. सुषमा चौधरी** 101
10. पं. प्रताप नारायण मिश्र का उर्दू के प्रति मोह-**डॉ. मुहम्मद इसराईल** 107
11. काश्मीर शैवदर्शन में स्पन्द की अवधारणा-**डॉ. मैत्रेयी कुमारी** 112
12. भारत में महिला श्रमिकों से जुड़े कानून और वर्तमान स्थिति
-**डॉ. शादाब खॉन** 119
13. स्वातन्त्र्यसम्भवम् में समत्व की भावना-**डॉ. कमलेश रानी** 127
14. हिन्दी भाषा शिक्षण: संभावना के विकल्पों की खोज
-**डॉ. संगीता वर्मा** 137
15. समृद्धि के प्रतीक शुक्र-**डॉ. मीतू गौण** 144

16. संस्कृति और भारतीय समाज- <i>श्रीमती कान्ति मीना</i>	150
17. सहजीवनः आज की स्त्री- <i>डॉ. भारती</i>	156
18. पाश्चात्य आलोचकों की दृष्टि में तुलसीदास - <i>डॉ. सुधा निकेतन रंजनी</i>	160
19. स्त्री अस्तित्व के नये स्वर और मृदुला गर्ग के उपन्यास - <i>डॉ. सुषमा सहरावत</i>	168
20. समकालीन हिंदी महिला कहानी लेखनः कुंठा और वर्जना से मुक्ति के स्वर- <i>डॉ. अनुराधा गुप्ता</i>	173
21. स्वामित्व एवं अन्य विवरण	181

सम्पादकीय

“हर्तुर्याति न गोचरं किमपि शं पुष्पाति यत्सर्वदा
ह्यर्थिभ्यः प्रतिपाद्यमानमनिशं प्राप्नोति वृद्धिं पराम्।
कल्पान्तेष्वपि न प्रयाति निधनं विद्याख्यमन्तर्धनं
येषां तान्प्रति मानमुज्झत नृपाः कस्तैः सहस्पर्धते॥

-आचार्य भर्तृहरि

अर्थात् विद्या गुप्त धन है जिसे चोर देख नहीं सकता, तो चुराने का प्रश्न ही नहीं होता, यह सदा मनुष्य के लिए सुख प्रदान करता है। औरों को समझाने से विद्या धन में निरन्तर वृद्धि होती है तथा युग-युगान्तरों के पश्चात् भी इसका नाश नहीं होता। विद्वानों के इस गुप्त विद्याधन की तुलना में राजाओं के धन-ऐश्वर्य का कोई महत्व नहीं है। अतः विद्वानों के प्रति अहंकार की भावना न रख सदैव उनका सम्मान करना चाहिए। विद्याधन कभी नष्ट न होने वाला धन है, बल्कि अन्य धन नश्वर तथा क्षणिक होते हैं।

‘एकेडेमॉस’ 2015 का नौवाँ अंक आप सभी प्रबुद्धजनों के सहयोग से प्रस्तुत करते समय अत्यंत प्रसन्नता हो रही है। समस्त सहयोगी रचनाकारों के सराहनीय प्रयास के लिए मैं हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ। प्राचार्या महोदया डॉ. मिनीती चैटर्जी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने हेतु शब्द असमर्थ मालूम पड़ रहे हैं। उन्हीं के दिशानिर्देशन में आरम्भ होकर ‘एकेडेमॉस’ आज अपने नौवें अंक तक की यात्रा सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सका है। यद्यपि यह वर्ष प्राचार्या महोदया का अवकाश प्राप्ति का वर्ष है किंतु उनके द्वारा दिखाए गए सन्मार्ग का अनुसरण करते हुए ‘एकेडेमॉस’ अपना सफर निरन्तर जारी रखकर और भी उन्नतशील होगा-इसी शुभेच्छा के साथ प्रस्तुत अंक आप सभी प्रबुद्ध पाठकों को समर्पित है।

-डॉ. सुषमा सहरावत

महादेवी वर्मा की नारी चेतना

1

अन्य होंगे चरण हारे
और हैं जो लौटते दे शूल को संकल्प सारे
दुःखव्रती निर्माण उन्मद
यह अमरता नापते पद
बांध देंगे अंक संसृति से तिमिर में स्वर्ण बेला।

अदम्य आत्मविश्वास का यह स्वर व्यक्त करने वाली, हिन्दी की महान कवयित्री महादेवी वर्मा, आधुनिक भारतीय नारी चेतना की अप्रतिम मिसाल हैं। उनके जीवन और साहित्य के आधार पर उनकी नारी चेतना का अध्ययन भारतीय नारी की विषम परिस्थितियों को अनेक दृष्टि-बिन्दुओं से देखने और समझने की दिशा में एक ऐसा प्रयास है जो आज की नारी से जुड़े अनेक ज्वलंत प्रश्नों पर सोचने की प्रेरणा प्रदान करेगा।

मैं नीर भरी दुःख की बदली।
विस्तृत नभ का कोई कोना
मेरा न कभी अपना होना
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली

महादेवी वर्मा की कविता के पाठक उनके जीवन वृत्त एवं व्यक्तित्व को प्रायः ऐसे ही करुण गीतों की प्रतिच्छवि के रूप में जानते और पहचानते हैं, किंतु शिक्षा, नारी-जागरण एवं समाज-निर्माण के कार्यों में बहुमूल्य योगदान करने वाली महीयसी महादेवी का व्यक्तित्व इतना एकांगी नहीं है। हिन्दी के समर्थ आलोचक डॉ. नगेन्द्र के अनुसार, “उनके व्यक्तित्व के तीन रूप हैं, एक - ममतामयी भारतीय महिला, दूसरा - राष्ट्र की जाग्रत मेधावी नारी और तीसरा - रहस्य कल्पनाओं की भाव-प्रवण कवयित्री... पहला पारिवारिक, दूसरा सामाजिक और तीसरा काव्य की मधुर साधना में लीन एकांतिक रूप!”

महादेवी का जन्म सम्वत् 1964 में फर्रुखाबाद, उत्तर प्रदेश में होली के दिन हुआ। मां-बाप की पहली संतान जिसका जन्म बड़ी प्रतीक्षा और मनौती के पश्चात् हुआ,

देवी दुर्गा के विशेष अनुग्रह के रूप में इनके बाबा ने इन्हें नाम दिया महादेवी। आज से लगभग 100 वर्ष पूर्व यह वह युग था जब परिवार में कन्या के जन्म का स्वागत नहीं होता था। स्वयं महादेवी ने लिखा है, “आंगन में गानेवालियां, द्वार पर नौबत वाले और परिवार के बूढ़े से लेकर बालक तक सब पुत्र की प्रतीक्षा में बैठे रहते थे। जैसे ही दबे स्वर से लक्ष्मी के आने का समाचार दिया गया, वैसे ही घर के एक कोने से दूसरे तक दरिद्र निराशा व्याप्त हो गई। बड़ी-बूढ़ियां संकेत से मूक गानेवालियों को जाने के लिए कह देतीं और बड़े-बूढ़े इशारे से नीरव बाजे वालों को विदा देते। यदि ऐसे अतिथि का भार उठाना परिवार की शक्ति के बाहर होता तो उसे बैरंग लौटा देने के उपाय भी सहज थे।”

महादेवी वर्मा को अपनी समकालीन बालिकाओं से भिन्न परिवेश मिला। महादेवी नाम को उपयुक्त बनाने के लिए बचपन से ही उनके मस्तिष्क में विद्या-बुद्धि भरने के अनेक साधन सुलभ कर दिए गए थे। उन्हें शिक्षित एवं समृद्ध परिवार में विकास का समुचित एवं उपयुक्त वातावरण मिला। ऐसे सौभाग्य के बावजूद तत्कालीन सामाजिक पारिवारिक परिवेश के प्रभाव से महादेवी का जीवन भी बचा नहीं रह सका। नवां वर्ष पूरा होने को हुआ कि उनके बाबा ने उनका विवाह करने का निर्णय कर लिया। प्राचीन परिपाटी के अनुसार घर में उनके विरुद्ध कुछ कहने का साहस किसी में न था। श्वसुर लड़कियों की पढ़ाई के नितांत विरोधी थे, इसलिए पढ़ाई का क्रम टूट गया। श्वसुर के देहान्त के बाद पढ़ाई के प्रशस्त पथ पर वे पुनः अग्रसर हुईं और यह क्रम जीवन के शेष वर्षों में अविराम चलता रहा। बी.ए. पास होने पर गौने का प्रश्न उपस्थित हुआ। महादेवी इस विवाह को किसी भी स्थिति में स्वीकार करने को तैयार न थीं। दूसरे विवाह की भी बात उठाई गई किंतु उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि वे विवाह ही नहीं करना चाहतीं। उन दिनों विवाह को इस प्रकार अस्वीकार करने का निर्णय ही कोई साधारण बात नहीं थी, आज भी अधिकांश भारतीय परिवारों में नहीं है, किंतु महादेवी ने अपने जीवन विकास के लिए जो उचित समझा वह किया, हठ और विद्रोह के साथ किया, और उनके पिता ने उनके इस निर्णय को अबोध बालिका के प्रति विवाह रूप में किए गए अपने अन्याय के प्रतिकार के रूप में सहर्ष स्वीकार किया।

महादेवी वर्मा ने स्वयं अपना व्यक्तित्व बनाया और अपना पथ स्वयं चुना। मार्ग में आने वाली बाधाओं को चुनौती देती हुई वे जीवन में अग्रसर हुईं। परवशता और परतंत्रता की शृंखलाओं को तोड़कर भारतीय नारी स्वतंत्र जीवन जी सकती है, यह

उन्होंने अपने जीवन में कर दिखाया। उनका व्यक्तित्व नारी की क्षमता, शक्ति, आत्मविश्वास और दृढ़-संकल्प का तथा उनका जीवन व्यक्तित्व-विकास एवं प्रभुत्व-प्राप्ति के लिए किए गए संघर्षों का अद्भुत उदाहरण है।

2

महादेवी वर्मा रहस्यवादी कवि, यथार्थवादी गद्यकार तथा समन्वयवादी आलोचक होने के साथ-साथ अद्वितीय रेखाचित्रकार, संस्मरण लेखिका, सामाजिक एवं ललित निबंधकार, उच्चकोटि की चित्रकार और परम प्रबुद्ध समाज तथा राष्ट्र-सेविका थीं। उनके रचनात्मक कार्यों में प्रयाग महिला विद्यापीठ और साहित्यकार संसद के अतिरिक्त अनेक संस्थाएं और पाठशालाएं हैं। उत्तर प्रदेश विधान-सभा की मनोनीत सदस्या के रूप में भी उन्होंने कार्य किया।

महादेवी वर्मा का साहित्य एक नारी द्वारा सर्जित नारी की व्यथा और शक्ति का एक समृद्ध संसार है। उनका काव्य-संसार 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सांध्यगीत' तथा 'दीपशिखा' से निर्मित हुआ है और 'शृंखला की कड़ियां', 'स्मृति की रेखाएं', 'अतीत के चलचित्र' तथा 'पथ के साथी' द्वारा गद्य का संसार रचा गया है। अपने काव्य में महादेवी आत्मकेन्द्रित हैं और गद्य में समाज केन्द्रित। उनका आत्मनिवेदन उनके काव्य का मूल आधार है जिसमें युग-युगान्तर से प्रियतम से मिलने को आतुर, नारी-मन का चित्रण है। गद्य में उन्होंने समाज के पीड़ित जीवन को स्वर दिया है जिसमें अभिशप्त नारी-जीवन का चित्रण प्रमुखता से हुआ है। यद्यपि महादेवी वर्मा को अधिक ख्याति कवयित्री रूप में मिली है, किंतु नारी-चेतना का जो वैविध्य और विस्तार उनके गद्य में दिखाई देता है वह कविता में नहीं। अतः उनके नारी संबंधी दृष्टिकोण से परिचित होने के लिए हम पहले उनके गद्य संसार में प्रवेश करेंगे।

जन्म से अभिशप्त, जीवन से संतप्त किंतु अक्षय वात्सल्य वरदानमयी भारतीय नारी को समर्पित है उनकी रचना 'शृंखला की कड़ियां' जिसमें भारतीय नारी से सम्बन्धित अनेक समस्याओं का विश्लेषण एवं समाधान हमें महादेवी की आक्रोशमयी शैली में उपलब्ध होता है। समस्या का समाधान समस्या के ज्ञान पर निर्भर करता है। जीवन की वास्तविकता से महोदवी का परिचय इतना घनिष्ठ और आत्मीय है कि वे समस्या की नब्ज को ठीक-ठीक पहचान सकी हैं, इसलिए उनके द्वारा प्रस्तुत निदान भी बड़े सटीक और प्रामाणिक प्रतीत होते हैं।

7

अपने आस-पास की भारतीय नारी को महादेवी ने बड़ी वैज्ञानिक और संतुलित दृष्टि से देखा है। उनके अनुसार इस समाज में दो प्रकार की स्त्रियाँ हैं - एक वे जो पुरुष का अर्थहीन अनुसरण कर रही हैं, और नहीं जानतीं कि वे भी एक विस्तृत मानव समुदाय की सदस्य हैं और उनका भी एक स्वतंत्र व्यक्तित्व है; और दूसरी वे जो अनर्थमय अनुकरण कर रही हैं, पुरुष की समता करने के लिए उन्हीं के दृष्टिकोण से संसार को देखने में, उन्हीं के गुणावगुणों का अनुसरण करने में जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति समझती हैं। अनुकरण और अनुसरण दोनों ही प्रवृत्तियाँ स्त्री के स्वाभाविक विकास के लिए उपयुक्त नहीं हैं।

नारी की असंख्य विषमताओं का कारण है उसका अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को भूलकर विवेकशक्ति को खो देना। प्रश्न पुरुष से प्रतिद्वन्द्विता का नहीं है। स्त्री को न दयनीय होना है, न असाधारण रूप से विद्रोही। महादेवी संतुलन पर बल देती हैं। स्त्रियों में स्त्रियोचित स्वतंत्र विवेकमय व्यक्तित्व का विकास अपेक्षित है। यह स्वतंत्र और कर्तव्य बुद्धि उसे पुरुष की छाया नहीं, उसकी संगिनी बनाते हैं। छाया का कार्य आधार में अपने आपको इस प्रकार मिला देना है जिसमें वह उसी के समान जान पड़े और संगिनी का अपने सहयोगी की प्रत्येक त्रुटि को पूर्ण कर उसके जीवन को अधिक से अधिक पूर्ण बनाना। आज की विद्रोहशील नारी पुरुष के समान कठिन एवं कठोर बनने की साधना कर रही है, प्रत्येक कार्य में पुरुष की भावना चरित्र और कार्य का अनुकरण करने लगती है। महादेवी वर्मा इसे स्पृहणीय नहीं मानतीं। उनके अनुसार स्त्री के व्यक्तित्व में कोमलता और सहानुभूति के साथ साहस तथा विवेक का ऐसा सामंजस्य होना आवश्यक है जिससे हृदय के सहज स्नेह की अजस्र वर्षा करते हुए भी वह किसी अन्याय को प्रश्रय न देकर उसके प्रतिकार में तत्पर रह सके।

अपनी समस्त शक्तियों से पूर्ण, महिमामयी महिला के सम्मुख किसी का मस्तक आदर से नत हुए बिना नहीं रह सकता, यह तर्क की नहीं अनुभव की वस्तु है।

3

आज भारतीय नारी के गुणों से चाहे वह आधुनिक हो या पौराणिक कौन परिचित नहीं? त्याग, सहनशीलता, ममता, साहस आदि विशिष्ट गुण उसे मानवी से सहज ही देवी बना डालते हैं, यह सत्य है, किंतु कम सत्य यह भी नहीं है कि आज की पढ़ी-लिखी सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त नारी भी पीड़ा के इस दंश से मुक्त नहीं

कि नारी को समाज में दायम दर्जे का ही स्थान प्राप्त है, उसकी इच्छा और अधिकार आज भी कोई विशेष अर्थ नहीं रखते। महादेवी इस स्थिति का विश्लेषण करते हुए लिखती हैं कि आज की नारी की विद्या उसके मानसिक विकास के लिए नहीं है, विवाह के व्यवसाय में पासंग बने हुए ढेले के समान है जो तुला को दोनों ओर समान रूप से गुरु कर देता है। उसकी योग्यता सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् तक पहुंचने का साधन नहीं है, पति के प्रदर्शन और गर्व की वस्तु है। उसके कोमल गुण संसार पर कल्याण-वर्षा करने के लिए नहीं, उसे पुरुष की इच्छानुकूल बनाने के लिए आवश्यक हैं। स्त्री को न अपने जीवन का कोई लक्ष्य बनाने का अधिकार है और न समाज द्वारा निर्धारित विधान के विरुद्ध कुछ कहने का। महादेवी वर्मा ने भावुकता और अवेश में आकर नारी की इस स्थिति के लिए पुरुष को दोषी मानते हुए उन्हें कुछ बुरा भला कहकर ही मुक्ति नहीं पा ली है। इस संदर्भ में उनका विश्लेषण हमारी आंखें खोल हमें आत्म-विश्लेषण के लिए प्रेरित करता है और जीने की वह कला सिखाता है जिससे नारी अपने व्यक्तित्व का विकास कर न केवल पुरुष के शोषण से मुक्ति पा सकती है वरन् स्वयं को उससे बेहतर मनुष्य प्रमाणित कर सकती है। जीने की इस कला में वे जिन गुणों पर बल देती हैं, वे हैं विवेक तथा सजीवता, जिनके अभाव में नारी के सब गुण मूल्यहीन निर्जीव हो रहे हैं। वे लिखती हैं, “यदि सजीवता न हो, विवेक के चिह्न न हों तो इन गुणों का मूल्य ही क्या है? क्या हमारे कोल्हू में जुता हुआ बैल कम सहनशील है? कम यंत्रणाएं भोगता है? शव हमारे द्वारा किए गए किसी अपमान का प्रतिकार नहीं कर सकता, सब प्रकार के आघात, बिना हिले-डुले, शांति से सह सकता है, हम चाहे उसे अतल जल में बहा कर मगरमच्छ के उदर में पहुंचा दें, चाहे चिता पर लिटाकर राख करके हवा में उड़ा दें, परंतु उसके मुख से न निःश्वास निकलेगी, न आह; न निरंतर खुली पथराई आंखों में जल जावेगा, न अंग कंपित होंगे। परंतु क्या हम उसकी निष्क्रियता की प्रशंसा कर सकेंगे। आज हिन्दू स्त्री भी शव के समान ही निस्पंद है!”

स्वतंत्र व्यक्तित्व को भूलकर विवेकशक्ति को खो बैठने के कारण ही नारी इच्छा और अधिकार से वंचित है। महादेवी की मान्यता है कि साधिकार और स्वेच्छा से स्वीकार करने पर गृहिणी का कर्तव्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं रहता है। पौराणिक नारी सीता का उदाहरण देते हुए वे अपनी बात स्पष्ट करती हैं कि छाया के समान राम का अनुसरण करने वाली मूर्तिमती करुणा सीता वास्तव में छाया नहीं है। वह अपने कर्तव्य के निर्दिष्ट करने में राम की सहायता नहीं चाहती, वरन् उनकी इच्छा

के विरुद्ध वन गमन के क्लेश सहने को उद्यत हो जाती हैं। सीता की प्रशंसा में महादेवी कहती हैं, “उसका सारा जीवन साकार साहस है जिस पर कभी दैन्य की छाप नहीं पड़ी।”

आधुनिक भारतीय शिक्षिता नारी से जुड़ी अनेक समस्याओं पर भी महादेवी ने अपनी लेखनी चलाई है। इस नारी के सम्मुख घर और बाहर की समस्या है, आर्थिक स्वतंत्रता का प्रश्न है, और अपनी अनेक समस्याओं से जूझने के साथ ही एक बड़ा दायित्व है। भविष्य में भारतीय समाज की क्या रूपरेखा हो उसमें नारी की कैसी स्थिति हो, उसके अधिकारों की क्या सीमा हो, आदि समस्याओं का समाधान आज की जाग्रत और शिक्षित नारी पर निर्भर है। महादेवी लिखती हैं, “शान्ति की अग्रदूती और स्वतंत्रता की ध्वजाधारिणी नारी का कार्य जीवन के स्वस्थ निर्माण में शेष होगा, केवल ध्वंस में नहीं।” अतः उनका परामर्श है कि भावी समाज के स्वप्न को सुन्दर और सत्य बनाने के लिए इस शिक्षिता नारी को चाहिए कि वह अपनी दुरवस्था के कारणों को स्मरण रखकर पुरुष की स्वार्थपरता को भुला दे क्योंकि यदि वह अपने विरोध को ही चरम लक्ष्य मान पुरुष से समझौते के प्रश्न को ही पराजय का पर्याय मान लेगी तो जीवन की व्यवस्था अनिश्चित और विकास का क्रम शिथिल होता जाएगा।

4

समय-समय पर जिन व्यक्तियों के सपर्क ने महादेवी वर्मा के चिंतन को दिशा और संवेदन को गति दी है, स्मृति की रेखाओं और अतीत के चलचित्रों के रूप में सर्जित उनके उन पात्रों के परिचय के अभाव में महादेवी की नारी चेतना का अध्ययन नितांत एकांगी और आधारहीन रह जाएगा। वे सृजनशीला नारी थीं उन्होंने अपनी अनुभूति और चिंतन के आधार पर काल्पनिक पात्रों का सृजन नहीं किया अपने जीवन में आए वाणीहीन पात्रों को अपने साहित्य में सृजित कर नारी की पीड़ा और शक्ति को स्वर दिया है। पीड़ा के बिना सृजन संभव नहीं। महादेवी वर्मा ने अपने इन पात्रों की पीड़ा को स्वयं झेला है, और समाज के उपेक्षित, शोषित, प्रताड़ित और पीड़ित वर्ग की वेदनाओं, अभावों, समस्याओं, संकटों और संघर्षों को उनकी अमानवीय परिस्थितियों के साथ इस रूप में चित्रित किया कि उनके प्रति करुणा और सहानुभूति का क्षेत्र विस्तृत और व्यापक बन सके। इन पात्रों में अधि कांश निम्न और निम्न मध्य वर्ग की नारियां हैं जो धूर्त पुरुष वर्ग के द्वारा सताई गई हैं, अतः उन्हें महादेवी की करुणा मिली है और पुरुष वर्ग को उनके

आक्रोशमय व्यंग्य का भाजन बनना पड़ा है। एक उद्धरण देखिए: “जिस समाज में 64 वर्ष का व्यक्ति, 14 वर्ष की पत्नी चाहता है, वहां 32 वर्ष की बिट्टो के पुनर्विवाह की समस्या सुलझा लेना टेढ़ी खीर थी। उसके भाग्य से ही 150 वर्ष की पूर्णायु वाला कोई पुरुष न मिला, और उसके जन्म-जन्मान्तर के अखण्ड पुण्यफल से हमारे 54 वर्ष के बाबा ने उसके उद्धार का बीड़ा उठाया।” भारतीय समाज के निम्नतम वर्ग की कर्मठता का जैसा सजीव परिचय हमें महादेवी की रचनाओं में मिलता है वह उनकी दयनीय स्थिति की विषमता को अत्यंत सघन बना देता है। दो छोटे-छोटे बच्चों के साथ निम्न जाति की सबिया की कर्मठता का सौन्दर्य महादेवी के शब्दों में देखते ही बनता है, “सवेरे ही नीम तले कंकरीली धरती पर एक फटा मैला कपड़ा डालकर वह बच्चे को लिटा देती और कुछ निगरानी करने और कुछ मक्खियां उड़ाने के लिए बचिया को बैठा, आप एक तार-तार पिछौरी से कमर कस कर झाड़ू संभालती। फिर कम्पाउण्ड के एक छोर पर झाड़ू के छर-छर संगीत के साथ हवा में उड़ती सी सबिया का नृत्य आरंभ होता और दूसरे छोर पर कभी वीरासन, कभी योगासन में बैठकर छोटे-छोटे हाथों से मक्खी उड़ाती और कभी एक पैर से कभी दोनों पैरों से कूद-फांद कर कौओं को डराती हुई बचिया का रूपक विस्तार पाता।”

निम्न जातियों में भी निकृष्टतम समझी जाने वाली इस सबिया की व्यथा कथा महादेवी के हृदय को छू लेती है और उनकी नारी चेतना इस रूप में अभिव्यक्ति पाती है, “समाज ने स्त्री मर्यादा का जो मूल्य निश्चित कर दिया है केवल यही उसकी गुरुता का मापदण्ड नहीं। स्त्री की आत्मा में उसकी मर्यादा की जो सीमा अंकित रहती है, वह समाज के मूल्य से बहुत अधिक गुरु और निश्चित है, इसी से संसार भर का समर्थन पाकर जीवन का सौदा करने वाली नारी के हृदय में भी सतीत्व जीवित रह सकता है और समाज भर के निषेध से घिर कर धर्म का व्यवसाय करने वाली सती की सांसों भी तिल-तिल कर असती के निर्माण में लगी रह सकती हैं।”

विमाता के अत्याचार से पीड़ित बिंदा, ससुर और ननद की यंत्रणाएं झेलती 19 वर्षीया विधवा मारवाड़ी वधू, आठ वर्ष की अवस्था में अनाथ और ग्यारहवें वर्ष में विधवा हुई 18 वर्ष की आयु में किसी पुरुष से धोखा खाकर एक नन्हें बालक की मां बनी युवती की समस्या, वेश्या-पुत्री होने के कारण ही अपवित्र समझे जाने वाली स्त्री का संघर्ष महादेवी की लेखनी से चित्रित होकर अमिट प्रभाव छोड़ने

वाली कालजयी रचनाएं बन गई हैं जो बार-बार पढ़ी जाकर, नए-नए अर्थ देती हैं और रुक कर कुछ सोचने को विवश करती हैं।

5

महादेवी की सेविका 'भक्तिन' की चर्चा के बिना तो महादेवी की पात्र-सृष्टि का परिचय अधूरा ही है। छोटे कद और दुबले शरीर वाली भक्तिन अपने पतले होंठों के कोनों में दृढ़ संकल्प और छोटी आंखों में एक विचित्र समझदारी लिए हुए है। सेवक धर्म में हनुमान जी से स्पर्द्धा करने वाली भक्तिन झूंसी गांव के एक अहीर की बेटी है। उसका इतिवृत्त बताते हुए महादेवी लिखती हैं, "पांच वर्ष के वय में उसे हंडिया ग्राम के एक सम्पन्न गोपालक की सबसे छोटी पुत्र-वधू बनाकर पिता ने शास्त्र से दो पग आगे रहने की ख्याति कमाई और नौ वर्षीया युवती का गौना देकर विमाता ने बिना मांगे पराया धन लौटाने वाले महाजन का पुण्य लूटा।" विमाता ने पिता के रोग की नहीं, देहांत की ही सूचना भेजी, सास ने भी उसे बिना सूचना के ही पिता से मिलने नैहर भेज दिया; किंतु घर पहुंचकर सारी स्थिति जानने पर दुःख से शिथिल और अपमान से जलती हुई वह घर से पानी भी बिना पिए ससुराल लौटी। ससुराल में भी एक के बाद एक तीन बेटियों को जन्म देने के कारण सास और जिठानियों से उपेक्षा ही मिली। "जिठानियां बैठकर लोक चर्चा करतीं और उनके कलूटे लड़के धूल उड़ाते। वह मट्टा फेरती, कूटती, पीसती, रांधती और उसकी नन्हीं लड़कियां गोबर उठातीं, कण्डे पाथतीं।" खाने-पीने में भी ऐसा ही भेदभाव था, "जिठानियां अपने भात पर सफेद राब रखकर गाढ़ा दूध डालतीं और अपने लड़कों को औटाते हुए दूध पर से मलाई उतार कर खिलातीं। वह काले गुड़ की डली के साथ कठौती में मट्टा पाती और उसकी लड़कियां चने बाजरे की घुघरी चबातीं।"

भक्तिन का जो गुण उसे विशिष्ट बनाता है वह है उसका परिश्रमी, तेजस्विनी और पति के प्रति रोम-रोम से सच्ची होना। किंतु दुर्भाग्य से बड़ी बेटी का विवाह करने के उपरांत ही भक्तिन को वैधव्य का अभिशाप झेलना पड़ा। जिस प्रकार उच्च वर्ग की स्त्री का गृहस्थी बसा लेना कलंक है, उसी प्रकार निम्न वर्ग की स्त्री का अकेला रहना सामाजिक अपराध है। भक्तिन उस वर्ग की स्त्री है जहां विधवा का पुनर्विवाह समाज स्वीकृत है किंतु भक्तिन स्वेच्छा से दूसरा विवाह न करने का निर्णय लेती है और घोषणा कर देती है 'हम कुकरी बिलारी न होय, हमार मन पुसाइब तौ हम दूसर के जाब, नाहिं त तुम्हार पचै की छाती पै होरहा भूंजब औ राज करब, समुझै रहौ'।

भक्तिन के दुःखों का अंत यहीं नहीं हो जाता। बड़ी बेटी किशोरी से युवती होते ही विधवा हो गई। जेठों और जिठौतों ने इस विधवा बेटी को अन्यायपूर्ण ढंग से एक दुर्व्यसनी तीतरबाज युवक से विवाह करने को विवश किया।

पारिवारिक द्वेष में गाय-ढोर खेती बारी सब गंवा कर यही कर्मठ भक्तिन कमाई के विचार से शहर आ पहुंचती है। महादेवी के यहां सेविका के रूप में कार्य करते हुए भी उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व है। महादेवी के शब्दों में, “भक्तिन को नौकर कहना उतना ही असंगत है जितना अपने घर में बारी-बारी से आने-जाने वाले अंधेरे-उजाले और आंगन में फूलने वाले गुलाब और आम को सेवक मानना। वे जिस प्रकार एक अस्तित्व रखते हैं जिसे सार्थकता देने के लिए ही हमें सुख-दुःख देते हैं उसी प्रकार भक्तिन का स्वतंत्र व्यक्तित्व अपने विकास के परिचय के लिए मेरे जीवन को घेरे हुए है।”

महादेवी वर्मा की नारी चेतना जिन नारी पात्रों के आधार पर स्वरूप ग्रहण करती हैं उनमें बिबिया भी है जिसकी चरित्रहीनता को लेकर स्वयं महादेवी संदेह और विश्वास के द्वन्द्व में पड़ी रहती हैं; किंतु जिसकी करुण कथा महादेवी की लेखनी का सहारा पाकर पाठक को यह विश्वास दिला देती है कि समाज के बार-बार दोहराए जाने वाले अत्याचारों के कारण निराश होकर आत्मघात करने का निर्णय लेने के लिए विवश होने वाली बिबिया चरित्रहीन नहीं थी। महादेवी का यह चित्रण हमें यह बोध देता है कि हमें अपनी नैतिक निष्ठा के कारण ऐसे पात्रों के प्रति न तो कठोर होने की आवश्यकता है और न सहानुभूति के दान में उदार होने की, किंतु आवश्यकता समाज की उन विकृतियों से संघर्ष की भूमिका के निर्माण की है जो बिबिया जैसी स्वाभिमानी नारियों को अकारण अपमानित कर ऐसी स्थिति में पहुंचा देती है जब वे सब ओर से निराश हो जोन से पराजय स्वीकार कर आत्मघात का आयोजन कर बैठती है।

6

कविता हृदय के चिरंतन सत्य की अनुभूति है। महादेवी वर्मा की कविता में व्यक्त उनके हृदय के चिरंतन सत्य की अनुभूतियां हमें एक ऐसी नारी-चेतना के दर्शन कराती हैं जो पीड़ा और वेदना को सहर्ष गले लगाती है किंतु जो आशा और संघर्ष का हाथ कभी नहीं छोड़तीं। अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए जिस अहं की आवश्यकता है, जीवन में जूझने और संघर्ष के लिए जो अस्मिता चाहिए उसकी

उन्होंने सदा रक्षा की और अहंकार जो मिथ्या गर्व का कारण है, उसे निकट नहीं आने दिया। उनकी कविता इस अहं को इष्ट में विलीन करने के प्रयासों की यात्रा है। प्रारंभ से ही मन में विरक्ति की भावना होने के कारण पति रूप में किसी को स्वीकार करने को उनका मन नहीं माना, किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि उनके मन में पुरुष मात्र से ही विरोध की भावना है। उनकी धारणा तो यह है कि स्त्री पुरुष दोनों व्यक्ति हैं, अपना-अपना निर्माण करें तभी समाज का निर्माण हो सकता है। शारीरिक संबंधों की अपेक्षा आत्मिक और अलौकिक आनंद की साधना ही उनकी काव्य साधना है। संध्याकालीन आकाश से उनके जीवन का तादात्म्य देखिए:

प्रिय सांध्य गगन मेरा जीवन।
यह क्षितिज बना धुंधला विराग
नव अरुण अरुण मेरा सुहाग
छाया सी काया वीतराग
सुधि भीने स्वप्न रंगीले घन
प्रिय सांध्य गगन मेरा जीवन।

महादेवी के भाव अपने परिष्कृत और उदात्तीकृत रूप में काव्य में व्यक्त हुए हैं। अपनी इच्छाओं को नग्न रूप में व्यक्त करना उन्हें अभीष्ट नहीं है। अतः प्रिय का आकर्षण एक जिज्ञासा के रूप में व्यक्त होता है!

सजनि कौन तम में परिचित सा
सुधि सा, छाया सा आता?
सूने में सस्मित चितवन से
जीवन-दीप जला जाता।

किंतु इस प्रिय को पाना और उस पाने से प्राप्त तृप्ति उन्हें अभीष्ट नहीं है -

पाने में तुझ को खोऊं
खोने में समझूं पाना
यह चिर अतृप्ति हो जीवन
चिर तृष्णा हो मिट जाना।

अलौकिक प्रियतम के पदचिह्न पाकर ही वे अमर सुहागिन होने की अनुभूति प्राप्त करती हैं तथा प्रिय के अनुराग से भर उठती हैं -

सखि मैं हूँ अमर सुहाग भरी
प्रिय के अनंत अनुराग भरी

अलौकिक आत्मसमर्पण को समझने के लिए लौकिक का सहारा लेना पड़ता है अतः माधुर्य भाव से जुड़े मिलन, आकांक्षा, कौतूहल, वेदना, विरह आदि के भाव उनके काव्य में बिखरे पड़े हैं किंतु जिस पथ की वे साधक हैं वहां विरह में ही आनंद खोजने का प्रयास है। अध्यात्म पथ के पथिक के लिए मृत्यु ही महोत्सव है। इस साधना का सौन्दर्य इसमें है कि साधना-पथ का पथिक पथ की बाधाएं दुःख, यातना, कष्ट आदि स्वयं सहर्ष वरण करता है किंतु सर्व भूत हिताय वह निरंतर मंगल की कामना से भरा है -

पथ न भूले एक पग भी
घर न खोए विहग भी
स्निग्ध लौ की तूलिका से
आंक सबकी छांह उज्ज्वल

निष्ठा और आत्मविश्वास के साथ अपने गंतव्य की ओर बढ़ती हुई वे जान चुकी हैं कि साधना ही उनकी सिद्धि है -

खोज ही चिर प्राप्ति का वर
साधना ही सिद्धि सुंदर
रुदन में सुख की कथा है
विरह मिलन की प्रथा है

जीवन के इस क्रम में विरह को स्वीकार करने के मूल में हताशा और निराशा का स्वर नहीं है वरन् आस्था है, प्रश्नों के उत्तर मिल गए हैं, जीवन के रहस्य समझ में आ रहे हैं मिटने में निर्माण के बीज दिखाई दे रहे हैं। दीपशिखा के अंतिम गीत में वे कहती हैं -

अलि मैं कण-कण को जान चली
सबका क्रंदन पहचान चली
मिटने को कर निर्माण चली

महादेवी के अनुसार कलाकार अपनी आत्म कहानी में हृदय हृदय की कथा कहता है और स्वयं चलकर पग पग के लिए पथ प्रशस्त करता है। महादेवी का जीवन

वृत्त, व्यक्तित्व, कविता और उनका गद्य, सब मिलाकर एक ऐसी महान पुस्तक है जिसका एक-एक पृष्ठ दीपक हाथ में लिए एक कलाकार नारी का रूप प्रस्तुत करता है जो आज के द्वन्द्व-ग्रस्त मनुष्य का पथ आलोकित कर रही है कि वह उस प्रकाश में अपने समाज के विभिन्न वर्गों की नारी की व्यथा और शक्ति को उसके सही यथार्थ रूप में पहचाने और स्वस्थ समाज के निर्माण में योग दे जहां स्त्री और पुरुष मनुष्यत्वयुक्त मनुष्य हों। इस सभ्य सुसंस्कृत समाज का विकास आध्यात्मिकता और व्यावहारिकता दोनों के समन्वित विकास में हो। व्यावहारिकता में एक व्यक्ति को दूसरे के लिए जो त्याग करना पड़ता है उसके उपयुक्त मानसिक स्थिति उत्पन्न कर देना आध्यात्मिकता का कार्य है और आध्यात्मिकता में जिस यथार्थता का स्पर्श हम भुला देते हैं उसे स्मरण कराते रहना व्यावहारिकता का कार्य।

डॉ. मधुरिमा कोहली

एसोसिएट प्रोफेसर (सेवानिवृत्त), हिन्दी विभाग

कमला नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

फोन नं. : 011-27312605

प्रसाद के साहित्य में संस्कृति की अनुगूँज

दिल्ली विश्वविद्यालय के रामजस कॉलेज से, हिंदी में एम.ए. 'संगीत-शिरोमणि' संगीत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान, 'संगीत-प्रभाकर' प्रयाग-संगीत-समिति, इलाहाबाद, पी.एच.डी. कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय विषय 'हिंदी के निर्गुण संत काव्य में संगीत तत्त्व', 'संगीत के परिप्रेक्ष्य में, मैथिलीशरण गुप्त का काव्य: परंपरा और आधुनिकता', 'लहर पारदर्शिका', 'कर्त्तव्य', 'नारी: समस्या-समाधान', 'संपूर्ण रामायण', 'खादी-दर्शन', 'अंत्याक्षरी-मंजूषा', 'तुलसी-वाङ्मय-अंत्याक्षरी', 'रस-प्रवेशिका' आदि 18 पुस्तकें प्रकाशित। एन.सी. ई.आर.टी. द्वारा बनाई गई 'सी.डी.', 'स्वाधीनता की सरगम' तथा 'बी.सी.डी.', 'आजादी की याद में', 'गगनांचल', 'आजकल', 'दैनिक जागरण', 'हिंदुस्तान', 'नवभारत टाइम्स', 'इंडिया गैप्स-टुडे', 'संगीत' आदि पत्र-पत्रिकाओं में छपे विविध आलेख। आकाशवाणी के इंद्रप्रस्थ, एफ.एम. रेनबो, रेडियो मिर्ची आदि चैनलों से वार्ताएं, आलेख-पठन।

सम्मान:

'लेखिका-भूषण' विश्वकर्मा समाज
'संगीत-विभूति' 'गांधी हिंदुस्तानी साहित्य सभा'
'समाज-गौरव' 'भारतीय साथी संगठन'
प्रसाद के साहित्य में, संस्कृति की अनुगूँज

गोस्वामी तुलसीदास जी ने, अपनी अमर रचना, 'रामचरितमानस' के 'बालकांड' में लिखा है:

“मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना।
राम रूप देखहिं किमि दीना॥”

शीशा मैला हो, देखनेवाली इंद्रिय, 'दृष्टि इंद्रिय' भी न हो और देखना हो, विराट पुरुष को तो बेचारा दीन-हीन महा-विराट राम के भव्य रूप को, कैसे देख सकता है?

पावन सांस्कृतिक-मूल्यों से उच्छिन्न व्यक्तित्व हो, पुनः दृष्टि भी, कवि-सुलभ सौंदर्य-पारखी न हो तो किसी कवि के काव्य के किए गए मूल्यांकन का, क्या मूल्य होगा?

प्रसाद जैसा कवि, जिसके काव्य की रागिनी में, संस्कृति, वादी (राजा स्वर) सुर बनकर, हृदय को आंदोलित करती हो, उसका उच्च कोटि के आलोचकों द्वारा किया गया मूल्यांकन, क्या कहा जाएगा? ऐसे मूल्यांकन को, संस्कृति प्रेमी, प्रसाद प्रेमी, छायावादी काव्य प्रेमी, राष्ट्रभाषा-प्रेमी पाठक या तो रद्दी की टोकरी में फेंक देगा या कबाड़ी को देनेवाले अखबारों में रख देगा? नासिख का एक शेर है;

‘इश्क को दिल में दे जगह नासिख
इल्म से शायरी नहीं आती।’
तुलसी ने भी कहा है,
‘जे श्रद्धा संबल रहित, नहिं संतन्हकर साथ।
तिन्ह कहूँ मानस अगम अति, जिन्हहिं न प्रिय रघुनाथा।’
(बा. कां. दो. सं. 32)

आज हिंदी का आलोचक, श्रद्धा को ‘आउट ऑफ डेट’ असामयिक तत्त्व समझ बैठा है। प्रसाद जी ने ‘इड़ा’ सर्ग में लिखा भी है,
“मनु तुम श्रद्धा को गए भूल
उस पूर्ण आत्मविश्वासमयी को, उड़ा दिया था समझ तूला।”
(कामायनी: इड़ा सर्ग, छं. सं. 11)

अभी कुछ दिन पूर्व, दिनांक 1.3.2015 को ‘जनसत्ता’ में, प्रसाद जी की 126वीं जयंती के समारोह का विवरण (हिंदी के हस्ताक्षर माने गए उद्भट व्यक्तियों का “सांस्कृतिक कवि भी हैं, जयशंकर प्रसाद तिवारी” शीर्षक से प्रकाशित हुआ। हिंदी के वरिष्ठ विद्वान, प्राध्यापक, समीक्षक डॉ. नित्यानंद तिवारी ने, प्रसाद को संस्कृति-कवि मानते हुए कहा, “आधुनिक युग से पहले, सांस्कृतिक चिंतन की श्रेणी नहीं थी। प्रसाद ने इसे चिंतन की श्रेणी बनाया। सांस्कृतिक पाठ तैयार करना, बहुत कठिन काम है। यह काम जयशंकर प्रसाद और हजारीप्रसाद द्विवेदी, दो लोगों ने किया।” उन्होंने खुद को, प्रसाद के आनंदवाद और सामंजस्यवाद का विरोधी बताते हुए कहा कि ‘जहाँ वे आनन्दवाद और सामंजस्यवाद पर पहुँचते हैं, वास्तविक प्रक्रिया से नहीं पहुँचते।’

ये स्थापनाएं प्रसाद के संस्कृति-कवि होने का मंडन हैं या खंडन? ऐसी टिप्पणियों से पाठक निग्नमित हो जाता है। गुमराह, प्रशस्त मार्ग पर चलनेवालों को आज दिशाहीन बताने पर तुला हुआ है। हिंदी का यह कैसा दुर्भाग्य है?” कबीर कह गए हैं,

“जाका गुरु भी आँधला, चेला खड़ा निरंध।
अंधे, अंधा ठेलिया, दून्युँ कूप परंत॥”

पहली बात यह है कि यह कहना कितना गलत है कि “आधुनिक युग से पहले, सांस्कृतिक चिन्तन की श्रेणी ही नहीं थी; प्रसाद ने इसे चिंतन की श्रेणी बनाया। यह काम जयशंकर प्रसाद और हजारीप्रसाद द्विवेदी, दो लोगों ने किया।”

तुलसीदास को, हिंदी के प्रतिष्ठित विद्वान कैसे भूल गए, जिन्होंने भारतीय-संस्कृति का पाठ तैयार करके, देश के घर-घर में पहुँचाया और पूरे विश्व को उससे मंत्रमुग्ध करके, कामिल बुल्के जैसे मनीषियों को ‘फ़ादर कामिल बुल्के’ से ‘बाबा कामिल बुल्के’ बना दिया। आयरलैंड के, रामायण के इस अद्वितीय विद्वान ने, हिंदी शब्दकोष भी लिखा।

संस्कृति-कवि तुलसी की संस्कार-निर्मातृ निम्नांकित चौपाई उन्हें सर्वप्रिय थी;

“धन्य जनमु जगतीतल तासू।
पितहि प्रमोदु चरित सुन जासू।
चारि पदारथ करतल ताकें।
प्रिय पितु मातु प्रान सम जाकें।”

(रामचरितमानस, अयो. कां. 46वीं अष्टपदी)

तुलसी के काव्य में सांस्कृतिक चिंतन को कैसे नकारा जा सकता है, जिन्होंने सांस्कृतिक-ग्रंथों; रामायण, उपनिषद, पुराण आदि से उपजीव्य लेकर, ‘क्वचिदन्यतोऽपि’ यानि मौलिक उद्भावना या कल्पना का योग करके, ‘कामायनी’ की भाँति, अपनी अमर रचना ‘रामचरितमानस’ का प्रणयन किया।

“नाना पुराण निगमागमसम्मतं यद्
रामायणेनिगदितं क्वचिदन्यतोऽपि,
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा,
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति।”

यह वह कवि है, जो बता रहा है कि कविता का उन्मेष तब होता है, जब आध्यात्मिक भारत देश के संस्कृति-पुरुष (राम) के प्रति कवि की भक्ति-भावना से प्रसन्न होकर, सरस्वती, ब्रह्मलोक को छोड़कर, भागी चली आती है। हृदय समुद्र है, बुद्धि सीप है और सरस्वती स्वाति नक्षत्र है, जब उसमें श्रेष्ठ विचार रूपी जल बरसता है तो मोती (मुक्तामणि) के समान, सुंदर कविता जन्म लेती है।

“भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई॥”

“हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना।

जौं बरषइ बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू॥२॥”

“कीन्हें प्राकृत जन-गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना॥३॥”

1. रामचरितमानस तुलसी, बाल कांड, 11वीं अष्टपदी की दूसरी चौपाई।
2. रामचरितमानस तुलसी, बाल कांड, 11वीं अष्टपदी की चौथी और पाँचवीं चौपाई।
3. रामचरितमानस तुलसी, बाल कांड, 11वीं अष्टपदी की चौथी चौपाई की प्रथम पंक्ति।

सांसारिक विषयों में लिप्त जन का गुणगान करने से, सरस्वती, अपना सिर धुनकर पछताने लगती है ‘मैं इसके बुलाने पर क्यों आई?’ जिसे यह स्पष्ट दिख रहा है, ऐसे विश्वप्रसिद्ध श्रेष्ठ सांस्कृतिक कवि की उपेक्षा करके, यह स्थापना कैसे दे दी गई कि ‘आधुनिक युग से पहले, सांस्कृतिक चिंतन की श्रेणी नहीं थी?’

तुलसी ही क्यों, क्या सूर में सांस्कृतिक चेतना नहीं थी, जिनके कृष्ण जानते हैं कि असली भारत गाँवों में बसता है। वैभव से पटी मथुरा नगरी में कृष्ण व्याकुल हैं और सादे-सरल जीवन के स्थल ब्रज गाँव के बिछोह से परम अधीर होकर, उसे याद कर करके पछता रहे हैं एवं दुखातिरेक से मौन हो जाते हैं।

“ऊधो, मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।

हंससुता की सुंदर कगरी, अरु तरुवर (कुंजन) की छाँहीं।

यह मथुरा कंचन की नगरी, मनि मुक्ताहल जाहीं।

जबहिं सुरति आवति वा सुख की, जिय उमगत तन नाहीं।

ग्वालबाल वह बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।

अनगन भाँति करी बहुलीला, जसुदा नंद निबाहीं।

सूरदास प्रभु रहे मौन है, यह कहि कहि पछिताहीं॥”

गाँव का स्वच्छ पर्यावरण, हस्तश्रम, गोपालन, आडंबर से दूर सादा रहने-सहन, सरलता, विकेन्द्रीकरण वाली अर्थनीति एवं जीवनशैली के कारण परस्पर प्रेम और एक कुटुम्ब सम आत्मीयता, हस्तोद्योग, कुटीरोद्योग, गृहोद्योग एवं ग्रामोद्योगों के चलन के कारण, परस्पर निर्भरता, एक-दूसरे की अपेक्षा, संयुक्त परिवार प्रथा,

बड़ों, महामानवों तथा भगवान के लिए पूज्य भाव एवं भक्ति भावना, बांसुरी की धुन सुनने की तड़प, यही तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाली भारतीय संस्कृति का यथार्थ एवं प्रत्यक्ष स्वरूप है, जो सूर-काव्य में है तथा प्रसाद जी के 'काव्य' के अतिरिक्त संपूर्ण वाङ्मय में देखने को मिलता है। सन् 1925 में प्रकाशित 'लहर' की निम्नलिखित पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं;

“जग की सजल कालिमा रजनी में, मुखचंद्र दिखा जाओ।
हृदय-अँधेरी झोली इसमें ज्योति-भीख देने आओ।
प्राणों की व्याकुल पुकार पर, एक मीड़ ठहरा जाओ।
प्रेम-वेणु की स्वरलहरी में, जीवन-गीत सुना जाओ।
स्नेहालिंगन की लतिकाओं की झुरमुट छा जाने दो।
जीवन-धन! इस जले जगत को, वृन्दावन बन जाने दो॥”

डॉ. तिवारी ने स्वयं को 'प्रसाद जी के आनंदवाद और सामंजस्यवाद का विरोधी' बतलाया, साथ ही 'संस्कृति कवि' भी कहा, यह कैसा विरोधाभास है? जब वे मानते हैं कि प्रसाद, आनंदवाद और सामंजस्यवाद पर वास्तविक प्रक्रिया से नहीं पहुँचते तो कौन-सी प्रक्रिया सही है और कौन-सी गलत, इसे बताए बिना, वक्तव्य, महत्त्वहीन नहीं तो और क्या है?

प्रो. दुर्गाप्रसाद गुप्त ने कहा, “प्रसाद आनंदवाद के माध्यम से बहुत आगे की चीजों को संबोधित कर रहे थे²”; ये बहुत आगे की चीजें क्या बला हैं? क्या पहेली हैं? क्या तत्त्व हैं? वर्तमान परिदृश्य में क्या समाधान हैं?

1. लहर: जयशंकर प्रसाद, कविता सं. 17

2. जनसत्ता: दैनिक पत्र, दिनांक 1.3.2015

आज के जाने-माने साहित्यिक रचनाओं के समीक्षक डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी का निष्कर्ष भी दुर्बोध है;

“जब तक हम प्रकृति को नहीं समझेंगे, तब तक संस्कृति को भी नहीं समझ सकते। पर्यावरण और प्रकृति, प्रसाद के यहाँ, पात्र के रूप में आते हैं। ऐसा काव्य मैंने कहीं और नहीं देखा।”

आशय हुआ कि प्रकृति को मनुष्य आज तक समझ नहीं पाया, इसलिए संस्कृति भी अबूझ ही रहेगी। उसकी चर्चा करना ही व्यर्थ है।

पर्यावरण और प्रकृति को पात्र के रूप में लाने वाले कवियों को इतनी जल्दी भुला दिया गया? सूर, हरिऔध, निराला, पंत, सियारामशरण गुप्त प्रभृति अनेकों कवियों के काव्य ध्यान में रहने चाहिए।

इस संदर्भ में हिंदी के प्रसिद्ध गांधीवादी कवि भवानीप्रसाद मिश्र जी की टिप्पणी, कारण-कार्य-शृंखला की दृष्टि से बहुत सटीक है। संस्कृति का दर्शन और इतिहास से गहरा संबंध है।

“हिंदी भाषा की कविता, प्रसाद के साथ, कुछ नए तत्त्व लेकर आई थी। उन तत्त्वों का, परवर्ती कवियों ने विकास नहीं किया। फल है कि हम संस्कृति के अवमूल्यन की इस घड़ी में, संस्कृतिहीन कविता से घिरे खड़े हैं।”

जो व्यक्ति, जो परिवार, जो जाति तथा जो साहित्य अपने दर्शन और इतिहास को भुला देता है, इतिहास उसे भुला देता है और जो इन्हें सतत स्मरण रखता है, वह मानवता के इतिहास में स्थान पा लेता है। प्रसाद जी भी ऐसे ही महाकवि थे। प्रसाद जी के संदर्भ में मिश्र जी ने लिखा है;

“इतिहास और दर्शन में वे अपेक्षाकृत अधिक डूबे, यह भारतीय दर्शन और इतिहास, प्रसाद के समस्त सर्जन की शक्ति है - इसलिए हम देखते हैं कि उनके अनेक समकालीन कवि, देह में रहते हुए भी, आज प्रसाद से कम जीवित हैं।”¹²

1. 'लहर पारदर्शिका' - डॉ. सीता बिम्ब्राँ: 'आशीर्वचन' - पृ. 1

2. वही : पृ. 2

प्रसाद-साहित्य के अध्येता एवं आलोचक प्रायः उन्हें संस्कृति-कवि मानने की अपेक्षा, रूप और यौवन के चितरे कवि मानते हैं। यदि ऐसा मान लें तो वे रीतिकालीन कवियों के समकक्ष हो गए। उन्हें महाकवि कदापि नहीं कहा जा सकता, जबकि यह निरी भ्रांति है। उन्हें 'रहस्यवादी' या 'रोमांटिक' कहना भी, उनके साथ अन्याय करना है। इस भ्रांति का निराकरण किया है, भवानीप्रसाद मिश्र जी ने;

“प्रसाद के कुछ आलोचक उन्हें किसी या किन्हीं प्रेमिकाओं के बहाने, रूप और यौवन का काव्य लिखनेवाला अथवा 'रहस्यवादी' कवि कह देते हैं। अध्यात्म आदि के बजाए, व्यक्ति प्रेम तक, किसी कवि में ढूँढना, एक प्रकार की नाबीनी है। कविता में उद्भाषित प्रेम अध्यात्म या दर्शन हो सकता है, संकीर्ण नहीं हो सकता।”

शृंगार-रूपक को अभिधेयार्थ मान लेने के कारण, हिंदी के पाठक और आलोचक, प्रसाद जी की कविताओं की गहनता को समझ नहीं पाए। यहां प्रेमिका प्रतिभासित होनेवाली नायिका, 'संस्कृति' है न कि दैहिक रूपाकृति वाली कोई नारी।

पं. रामनाथ सुमन ने उनसे प्रेमिका का चित्र माँगा, प्रसाद जी ने कहा, 'अवश्य दूंगा'। होता तो देते और वे दुनिया से चले गए।

भवानीप्रसाद मिश्र जी ने, प्रसाद जी के काव्य के विराट फलक एवं रूपक-योजना के निहितार्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है;

“प्रसाद के काव्य के आधार पर, अगर कोई उन्हें विलासी आदि तय करना चाहे तो यह कोई कठिन काम नहीं है। काव्य की अंगुली पकड़ लेने पर, अध्यात्म या दर्शन, किसी निर्गुण-निराकार के चक्कर नहीं काट सकता। कबीर जैसा 'निर्गुनिया' कवि भी, अपने सारे उपमान, शारीरिक प्रेम की दुनिया से उठाता है और मीरा तो खैर, इसकी सारे संसार में, सबसे ज्वलन्त शलाका है।²”

1. वही: पृ. 3

4. वही: पृ. वही

प्रसाद-काव्य के शिक्षकों एवं टीकाकारों की भ्रांति, छायावाद की विशेषताओं को आत्मसात करने पर ही दूर होगी। यदि लौकिक प्रेम के छिछले उद्देश्य को लेकर ही, प्रसाद ने साहित्य-रचना की होती तो संसार से कूच किए 78 वर्ष बीत जाने पर भी, वे जितने याद किए जा रहे हैं, उतना याद न किए जाते। प्रसाद जी ने स्मृति, निःशेष न होने का हेतु बताया है;

“यह नीड़ मनोहर कृतियों का,
यह विश्व कर्म रंगस्थल है,
है परम्परा लग रही यहाँ,
ठहरा जिसमें जितना बल है।¹”

“वे कितने ऐसे होते हैं,
जो केवल साधन बनते हैं;
आरम्भ और परिणामों के,
सम्बन्ध-सूत्र से बुनते हैं।²”

1. कामायनी: जयशंकर प्रसाद: 'काम' सर्ग, पृ. 75

2. वही

संसार, मनोहारी, मंगलकारी कर्मों की रंगस्थली है। इसमें आवागमन की परंपरा है परन्तु जिसमें प्रतिकूलताओं, विडम्बनाओं, अतिचारों और अन्याय से लड़ने की जितनी अधिक क्षमता होती है, ऊर्जा होती है, उसका अस्तित्व उतना ही स्थाई होता है। ऐसे अस्तित्वशाली, जन्म और कर्मफल के साधन बनकर, शुभ गति के संबंध-सूत्रों को बुनते हैं। मानव जीवन को (या मानव देह को) मांगलिक कर्मों का साधन बनाकर, सफल काम होते हैं। साधन को साध्य बनाकर, काम साधना से नष्ट नहीं करते।

जो कवि, देह धारण की सार्थकता के लिए इतना गंभीर है, उसे केवल प्रकृति और प्रेम का कवि मान बैठना कितनी अज्ञता है!

मिश्र जी ने इस प्रसंग को बड़ी सरल शैली में सुलझाया है। “प्रसाद प्रकृति और प्रेम के कवि हैं, इसमें कोई मतभेद नहीं हो सकता। मतभेद तब होता है, जब पुराने ढंग के आलोचक, उनकी प्रेमपरक रचनाओं के स्थाई भाव को रति और फिर इस भाव के आलंबन-उद्दीपन आदि गिनाने लगते हैं या जब नया पाठक या आलोचक, उन्हें 'रोमानी' कहकर छुटकारा पा लेना चाहता है। यदि बात इतनी मामूली होती तो दुनिया से चले जाने के बाद, इतनी लम्बी अवधि तक, देश की विभिन्न भाषाओं में, उनकी काव्य-कृतियों के अनुवाद, उन्हीं की हस्तलिपि में, उनके संस्करण न होते और संस्कृत के विद्वान् 'कामायनी' को, संस्कृत में प्रस्तुत करने के लिए, इतने व्याकुल न होते।।”

मिश्र जी प्रसाद जी के प्रेम-चित्रण को, लौकिक धरातल से ऊपर, एक अपरम्पार की साधना मानते हैं। उनके अनुसार, “लहर, नाटकों में आए हुए गीत और फिर कामायनी तक की हर रचना, कवि को किसी एक या अनेक प्रेयसी को चित्रित करनेवाले कवि की जगह, एक ऐसे विशाल हृदयवान के रूप में उभारती है, जिसका प्रेम स्थान समूची मानवता-सद्प्रवृत्ति है। हर श्रेष्ठ काव्य की भांति, उनके काव्य की भी मूल प्रेरणा, सौंदर्य और प्रेम ही है, जिसके चित्र एक विस्तृत पट पर आँके गए हैं। यह प्रेम किसी व्यक्ति के प्रति प्रेम न रहकर, एक अपरम्पार की साधना बन गया है।

“प्रसाद किसी क्षणिक वासना को नहीं, शाश्वत अनुभूति को गाते हैं और पाठकों को वहाँ ले जाना चाहते हैं, जहाँ पहुँचकर द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं।”²”

1. लहर पारदर्शिका, ‘आशीर्वचन’, पृ. 3
2. वही, ‘आशीर्वचन’, पृ. 4

‘लहर’ के परिप्रेक्ष्य में, भवानीप्रसाद मिश्र जी द्वारा प्रसाद के समग्र काव्य का ऐसा समग्र मूल्यांकन विरल है। ‘गागर में सागर’ की भाँति मुकम्मल है। हिंदी में अन्यत्र ऐसी पारखी-दृष्टि देखने को नहीं मिली। प्रस्तुत आलेख में मैं ‘आशीर्वचन’ में, मुझे दी गई उनकी अनजानी ज्ञानराशि को पाठकों के समक्ष रखने का लोभ संवरण नहीं कर पाई। इस पुस्तक के प्रकाशक ‘पुस्तक मन्दिर’ के अखिल भारतीय नक्शों और चार्ट्स के विक्रेता, मेरे बाबाजी, स्वाधीनता सेनानी स्व. बाबा लालसिंहजी थे। अतः प्रचार न कर पाने के कारण, पुस्तक ज्यादा हाथों में नहीं गई। प्रसाद-काव्य का, उनके द्वारा किया गया यह मूल्यांकन हिंदी-जगत के समक्ष अभी तक नहीं आ सका क्योंकि पुस्तक का एक ही संस्करण प्रकाशित हो सका। मुझे विश्वास है कि प्रसाद-काव्य के प्रेमी पाठक, इस सामग्री से भरपूर लाभ उठाएंगे और उनकी अमूल्य देन को व्यर्थ नहीं जाने देंगे।

सत्य यह है कि प्रसाद के काव्य में सांस्कृतिक-गौरव के नाद का स्पष्ट अनुरणन हो रहा है परन्तु “समुझि परे, जब ध्यान धरे।” जो कविता, विषमता के कोलाहल की अवनि से दूर, श्रम-विश्राम की महानन्दमयी मिलनस्थली के दर्शन करवाकर, हृदय को, समरसता की उच्च भूमिका प्रदान कर सकती हो, वह सांस्कृतिक कविता नहीं, पलायनवादी कही गई।

“ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक! धीरे धीरे!!
श्रम-विश्राम क्षितिज वेला से -
जहाँ सृजन करते मेला से -
अमर जागरण उषा नयन से -
बिखराती हो, ज्योति घनी रे!”

प्रसाद कह रहे हैं कि ऐ मेरी जीवन-नैया के कर्णधार अर्थात् मेरे लक्ष्य रूपी नाविक, तुम मुझे उस तेजोमय लोक में ले चलो, जहाँ घोर परिश्रम और विश्राम

का उसी प्रकार आलिंगन हो, जैसे क्षितिज में, धरती और आकाश, मिलते हुए दिखाई देते हैं।

हर स्वाधीनता-चेता की भाँति, स्वाधीनता के पश्चात्, प्रसाद ऐसे वर्गहीन समाज को देखना चाहते हैं, जहाँ :श्रम', 'श्रमिक' एवं 'विश्राम', 'पूँजीपति'; मेले के समान मिलकर सृजन करने का उत्साह रखते हों (बजाए इसके कि एक घोर श्रम करे और दूसरा उसके श्रम पर पलकर विश्राम किया करे) तथा जहाँ देश में उदित संस्कृति की उषा, अपनी सर्वसमानत्वमयी दृष्टि से विश्व में, प्रेम की शाश्वत जागृति की घनी ज्योति बिखेर दे।

भारतेन्दुकाल के पश्चात्, हिंदी-साहित्य में 'यथार्थवादी' लेखन का उत्साह जागृत हुआ परंतु यथार्थ का भदेस वर्णन हमारे सहृदय पाठक को कभी नहीं रुचेगा फिर वह कवि-धर्म भी नहीं है। इस आवश्यकता को पूरा किया, छायावादी कवियों ने। सन् 1920 से सन् 1940 का यह समय, पूरे विश्व में 'गांधी की आँधी' का युग था। कवि इस प्रभाव से अछूता कैसे रह सकता था? वह समझ चुका था कि देश आज नहीं तो कल, अब आजाद होने वाला ही है, जैसा कि प्रसाद जी की निम्नांकित कविताओं में स्पष्ट संकेत है।

“बीती विभावरी जाग रही,
अम्बर पनघट में डुबो रही,
ताराघट ऊषा नागरी।

खगकुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई
मधु मुकुल नवल रस गागरी।।”
तथा -

“अब जागो जीवन के प्रभात!

रजनी की लाज समेटो तो,
कलख से उठकर भेंटो तो,
अरुणांचल में चल रही बात!2”

1. लहर - कविता सं. 8
2. वही - कविता सं. 12

ये कवि (छायावादी) सांस्कृतिक विहान के सपने देख रहे थे और उन सपनों को पूरा करने में भी लगे थे। आजादी के लिए जेल जाने वाले परिचितों के परिवारों के घरों में राशन पहुँचाना, उनकी समस्याओं में उनका सहयोग देना; प्रसाद जी ऐसे सेवा कार्यों में भी, लेखन कार्य के साथ लगे रहते थे। हिंदी के इतिहासकारों ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। इस संदर्भ में भी भवानीप्रसाद मिश्र जी ने लिखा है;

“जीवन केवल यथार्थ पर अड़े रहना नहीं है, सपने देखना भी है। इन कवियों ने स्थितियों को केवल देखा नहीं, उन्हें बदलने के सपने भी देखे तथा अपने उस ‘स्वप्न-दर्शन’ को वाणी दी। धीरे-धीरे, स्वप्न को साकार करनेवाले साधारण और विशिष्ट कवि तथा लेखकों की संख्या बढ़ने लगी। उनमें से अनेक इस बात का अनुभव करने लगे कि स्वातंत्र्य आज नहीं तो कल, हाथ में आने ही वाला है। जब वह आ जाएगा तब आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था का जो एक नक्शा, बहुत कुछ समझा जा सकेगा, कुछ लोग उसे पूरा करने में जुट जाएंगे – तथापि संस्कृति के विकास की दिशा में बढ़ना होगा। * नए युग के योग्य, निर्माण की समिधाएं एकत्रित कीं श्री अरविंद, रवीन्द्रनाथ, कुछ अंशों में इकबाल के अतिरिक्त कवि प्रसाद ने।।”

1. लहर-पारदर्शिका: पृ. 2

प्रसाद के काव्य के उद्देश्य के प्रति भी, हिंदी के विद्वतवर्ग में अनेक भ्रातियां फैली हुई हैं। इस संबंध में ‘काव्य और कला’ निबंध में व्यक्त उनके शब्द, उनके काव्य की उच्च भूमिका को दर्शा रहे हैं;

“काव्य एक श्रेयमयी प्रेम रचनात्मक ज्ञानधारा है। काव्य स्वतः आध्यात्मिक है। काव्य से ऊंची, अध्यात्म नाम की कोई वस्तु नहीं।”

इंद्रप्रस्थ कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रोफेसर रहीं, डॉ. मधुरमालती सिंह ने सत्य ही कहा है, “इस अमर साहित्यकार पर लेखनी उठाने से पूर्व, हमें अपने संस्कारों को माँजने की अत्यन्त आवश्यकता है।”

जो साहित्यकार अपनी कहानियों और नाटकों में ऐसा बलि-बलि जानेवाला आदर्श प्रस्तुत कर रहा है; वह काव्य में शारीरिक प्रेम का संधान करनेवाले अपने समकालीनों को उत्तर दे गया है।

“ओ मेरे प्रेम बता दे,
तू स्त्री है या कि पुरुष है?
दोनों ही पूछ रहे हैं, कोमल है या कि पुरुष है?
उनको कैसे समझा दूँ, तेरे रहस्य की बातें
जो तुझको समझ चुके हैं, अपने विलास की बातें।”

चंपा - बुद्धगुप्त! मेरे लिए सब भूमि मिट्टी है; सब जल, पवन शीतल है। कोई विशेष आकांक्षा, हृदय में अग्नि के समान प्रज्वलित नहीं। सब मिलाकर मेरे लिए एक शून्य है। प्रिय नाविक! तुम स्वदेश लौट जाओ। विभवों का सुख भोगने के लिए और मुझे छोड़ दो, इन निरीह भोले-भाले प्राणियों के दुःख की सहानुभूति और सेवा के लिए।।’

1. ‘आकाशदीप’ कहानी ‘जयशंकर प्रसाद’।

विजया ने प्राणांत कर लिया; हूणों से पदाक्रांत अपनी धरती को मुक्त करा लिया; मार्ग में कोई बाधा नहीं तथा जीवन में केवल ‘स्कंदगुप्त’ को ही, अपने हृदय का सम्राट बनाया था तथापि देवसेना का, उसको उत्तर मैथिलीशरण गुप्त जी की निम्नांकित उक्ति की याद दिला देता है;

“आदर्शों की है निज जाति,
ज्यों मुक्ता है, जननी स्वाति।”

‘आदर्श ही ईश्वर है हमारा।’ (साकेत) (पृ. 500)

स्कंदगुप्त और देवसेना का संवाद, एक दूसरे से, आत्यंतिक प्रेम और फिर जीवन भर के लिए विदाई दिखाना; प्रसाद के निगूढ़ सांस्कृतिक प्रेम की एक अनुपम मिसाल है।

मालवेश कुमारी देवसेना पर्णदत्त के साथ मिलकर, हूणों के आक्रमण से घायल, सैनिकों, भुखमरी के शिकार सैकड़ों अनाथ वीरों के बालकों; तथा विधवाओं की सेवा करती है। यही नहीं, स्कंदगुप्त की माता देवकी की समाधि को साफ करना आदि देश सेवा के कार्य भी करती हैं। संगीत की देवी निस्सहायों के लिए गाती है और उनके भरण-पोषण के लिए सामान्य नागरिकों से भीख मांगती है। उसका भाई बंधु वर्मा, जो कि मालव का राजा है, देशहित अपना राज्य गुप्त-साम्राज्य को दे डालता है, निःस्वार्थ भाव से अपना राज्य, मगध के युवराज स्कंदगुप्त के चरणों में अर्पित कर देता है।

स्कंदगुप्त, देवसेना की देशसेवा पर मुग्ध होकर कहता है, “चलो महादेवी की समाधि के सामने प्रतिश्रुत हो, हम तुम अब अलग न होंगे। साम्राज्य तो नहीं है, मैं बचा हूँ, वह, अपना ममत्व तुम्हें अर्पित करके उच्छ्वस होऊँगा और एकांतवास करूँगा।”

देवसेना – सो न होगा सम्राट! मैं दासी हूँ। मालव ने देश के लिए उत्सर्ग किया है, उसका प्रतिदान लेकर, मृत आत्मा का अपमान न करूँगी।

स्कंदगुप्त – देवसेना! एकांत से किसी कानन के कोने में तुम्हें देखता हुआ, जीवन व्यतीत करूँगा! साम्राज्य की इच्छा नहीं – एक बार कह दो।

देवसेना – तब तो और भी नहीं! आपको अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित न रहेगी। सम्राट – क्षमा हो! इस हृदय में – आह! कहना ही पड़ा, स्कंदगुप्त को छोड़कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जाएगा। अभिमानी भक्त के समान, निष्काम और मुझे उसी की उपासना करने दीजिए, उसे कामना के भंवर में फंसाकर, कलुषित न कीजिए। नाथ! मैं आपकी ही हूँ, मैंने अपने को दे दिया, अब उसके बदले, कुछ लेना नहीं चाहती।”

स्कंदगुप्त तत्काल आजीवन कुमार-जीवन की प्रतिज्ञा लेता है, अपनी जननी की समाधि के समक्ष! स्कंद देवसेना से कहता है, बंधुवर्मा की प्रतिज्ञा पूरी हो गई, हूणों से देश मुक्त हो गया, अब हम दोनों जीवन के शेष दिन, एक-दूसरे का मुंह देखकर काट लेंगे परंतु देवसेना स्कंद को एक असाधारण तुंग लक्ष्य का संकेत करके उससे अलग होने की अनुमति मांगती हुई कहती है, “कष्ट हृदय की कसौटी है – तपस्या अग्नि है – सम्राट! यदि इतना भी न कर सके तो क्या! सब क्षणिक सुखों का अंत है। जिसमें सुखों का अंत न हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिए। मेरे जीवन के देवता! और उस जीवन के प्राप्य!”

संस्कृति के आख्याता, प्रसाद का संपूर्ण वाङ्मय, देशप्रेम से सराबोर है। ‘पेशोला की प्रतिध्वनि’ कविता में व दिखाते हैं कि महाराणा प्रताप के पश्चात् मेवाड़ पराधीन, श्रीहीन हो गया है। उनकी ओजस्वी वाणी, तत्कालीन परतंत्र देश के परिप्रेक्ष्य में पुकार उठती है;

“जीवित है कौन?

साँस चलती है किसकी

कहता है कौन ऊंची छाती कर, मैं हूँ-

मैं हूँ - मेवाड़ में,
अरावली शृंग-सा समुन्नत सिर किस का?
बोलो, कोई बोलो - अरे क्या तुम सब मृत हो?ह

नारी, भारतीय संस्कृति की ज़बरदस्त संरक्षिक रही है। एकनिष्ठा, पातिव्रत्य, सांस्कृतिक-मूल्य हैं। पद्मिनी का जौहर, नारी के लिए अनुकरणीय रहा है परंतु आधुनिक नारी की भांति एक नया मूल्य रानी कमला के समक्ष प्रकट हुआ, रूपाभिमान के कारण! वह कहती है;

“पद्मिनी जली थी स्वयं, किन्तु मैं जलाऊँगी
वह दावानल ज्वाला
जिसमें सुलतान जले।
देखे तो प्रचण्ड रूप-ज्वाला सी धधकती
मुझको सजीव वह अपने विरुद्ध!
आह! कैसी वह स्पर्द्धा थी?
स्पर्द्धा थी रूप की
पद्मिनी की बाह्य रूपरेखा चाहे तुच्छ थी,
मेरे इस साँचे से ढले हुए शरीर के
सम्मुख नगण्य थी।

रानी कमला ने पद्मिनी के चित्र के साथ, शीशे में अपना मुँह देखकर उससे तुलना की और स्वयं को उससे अधिक रूपवती पाया।

अपना मूल्यांकन करके कमला कहती है कि लेकिन मेरा हृदय वैसा दिव्य कहाँ था? “लघुता चली थी माप करने महत्त्व की। सोचती थी, पद्मिनी का अनुकरण क्यों करूँ? उससे ऊँचा और भिन्न आदर्श दिखाऊँ!

पति गुर्जरेश, कर्णदेव ने मानिक के हाथों संदेश भिजवाया कि ‘शीघ्र अंत कर दो, जीवनकी लीला।’ आज की ‘आधुनिकता’ की भांति रानी कमला ने सोचा कि ‘मुझे वापस पाने में उन्होंने कौन-सी प्राणों की बाज़ी लगा दी है? वे भी तो जीवित हैं? मेरे प्रति उनका प्रेम कहाँ है? प्राणों के लोभ से वे भी तो जिंदा हैं?’ पुरुष नारी के लिए ही एकनिष्ठज्ञ की बात क्यों सोचता है?

‘जीवन अलभ्य है! इसी जिजीविषा एवं महत्त्वाकांक्षा के कारण, मैं इस निर्णय पर पहुँची हूँ कि अतुलनीय रूप ने मुझे गुजरात की रानी बनाया था और वही मुझे प्रेरित कर रहा है, भारतेश्वरी का पद लेने को!

हर पाप का परिणाम अवश्यंभावी है। वह दिन भी आ गया, जब अधिकार-लोभी 'मानिक' ने अपने स्वामी का बदला लेने के लिए 'खुसरू' के नाम से, सुलतान अलाउद्दीन का अंत करके, सदर्प शासन-दंड ग्रहण किया। रानी कमला कहती है, 'मैं जो करने आई थी, उसे किया मानिक ने, खुसरू ने!' वह घृणा से भर उठता है और रानी कमला कहती है,

'कह गया अभी-अभी नीच परिवारी वह!'

"नारी यह रूप तेरा जीवित अभिशाप है,
जिसमें पवित्रता की छाया भी पड़ी नहीं।"

फलतः नारी जीवन सुलभ पवित्रता तथा गरिमा से वंचित हो गई कमला! वह गौरवविहीन एवं आत्मसम्मान-शून्य हो गई, प्रलय की छज़या से, अपयश की कालिमा में अन्तर्धान हो गई।

जिस देश की नारी ऊँची है, चरित्रवान है, वही देश समर्थ है। दुनिया में सर ऊँचा करने योग्य है; प्रसाद इस तथ्य से अवगत थे। अंग्रेज़ियत की नकल से, नारी आज पतन के जिस कगार पर पहुँच चुकी है, ऐसे में प्रसाद जी की 'प्रलय की छाया' कविता, घोर प्रासंगिक हो उठी है। अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षिणी-तलस्पर्शिनी दृष्टि से, प्रसाद जी ने सन् 1925 में ही, यह देख लिया था कि अजर-अमर रहनेवाले चरित्र की साधना को छोड़कर, क्षणभंगुर शारीरिक रूप-संवर्द्धन की होड़ एवं दौड़ उसे पतन के अतल तक पहुँचा देगी। अब यह नारी फिर निर्भर है कि उसे क्या विकल्प चुनना है, पद्मिनी की भाँति प्रेरणामयी बनना या कमला की भाँति बदनाम! चरित्रहीन!! और पतित!!!

भारत की संस्कृति का सूत्र है, 'वसुधैव कुटुम्बकम्।' प्रसाद जी ने कामायनी में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के लक्ष्य तक पहुँचने के विविध सोपानों को पार करते हुए मनु और श्रद्धा को, पुनः इड़ा तथा मानव को दर्शाया है। इड़ा कहती है;

"हम एक कुटुम्ब बनाकर,

यात्रा करने हैं आए,

सुनकर यह दिव्य तपोवन,

जिसमें सब अध छुट जाए।'

मनु अंतिम लक्ष्य 'आनंद' के दर्शन करवाते हैं।

मनु ने कुछ-कुछ मुसक्या कर

कैलास ओर दिखलाया,
बोले, “देखो कि यहाँ पर
कोई भी नहीं पराया।
हम अन्य न और कुटुम्बी,
हम केवल एक हमी हैं;
तुम सब मेरे अवयव हो,
जिसमें कुछ नहीं कमी है।”

भारतीय संस्कृति का इतना सुंदर स्वरूपांकन, अन्यत्र कहीं नहीं मिलता, जैसा प्रसाद ने किया है;

“सब-भाव भुलवा कर,
दुःख-सुख को दृश्य बनाता;
मानव कह रे! ‘यह मैं हूँ’
यह विश्व नीड़ बन जाता।”

इस मंजिल तक पहुँचने के लिए, भारतीय-दर्शन में तीन सोपान हैं; भोग; जिसका साधन है ‘शरीर’। ‘सुख’; जिसका माध्यम है ‘मन’। ‘आनंद’, जिसका भावन करती है ‘आत्मा’। ‘देह’ से ‘आत्मा’ तक की यात्रा है, ‘मैं देह नहीं, आत्मा हूँ; कर्मठता से संभव है। ज्ञान, भक्ति और कर्म का वहाँ सामंजस्य है तब सिद्धि संभव है।

देवों का संसार ‘भोग’ तक सीमित रह गया; फल मिला, ‘जल-प्रलय’ ‘चिंता’ सर्ग में मनु इसी चिंतन से दुःखी हैं।

“विकल वासना के प्रतिर्नाधि वे,
सब मुरझाए चले गए;
आह जले अपनी ज्वाला से,
फिर वे जल में गले गए।”

‘भोग’ के दुःखदाई फल के बाद मनुष्य ‘सुख’ की ओर लपकता है। सुख का केंद्र है, मन। मन में सुखमय जीवन की लालसा उत्पन्न होती है। श्रद्धा; भूत-हित-हेतु हविष्यात्र रखनेवाले, प्रलय में बचे पुरुष की टोह में मनु को पा लेती है। वह अपने समर्पण तथा सहवास की इच्छा प्रकट करके, सुख का मार्ग प्रशस्त करती है।

“दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो अगाध विश्वास।
तुम्हारे लिए हमारा हृदय,
रत्ननिधि स्वच्छ खुला है पास।
बनो, संसृति के मूल रहस्य,
तुम्हीं से फैलेगी वह बेल;
विश्व भर, सौरभ से भर जाए,
सुमन के खेलो सुन्दर खेला।” (श्रद्धा : सर्ग)

सुख की टोह में मनु का उत्तरोत्तर आरोहण हुआ है; आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इडा, स्वप्न, संघर्ष, निर्वेद, दर्शन, रहस्य सर्गों में। ज्ञान, भक्ति और कर्म की देवी-श्रद्धा, तकली कातती है। मनु से कहती है;

“तुम दूर चले जाते हो जब
तब लेकर तकली यहाँ बैठ;
मैं उसे फिराती रहती हूँ।”
“मैं बैठी गाती हूँ तकली के
प्रतिवर्तन में स्वर-विभोर
चल री तकली धीरे-धीरे
प्रिय गये खेलने को अहेर।”
“पश्चिम की रागमयी संध्या...
यों सोच रही मन में अपने,
हाथों में तकली रही घूमा।” (ईर्ष्या : सर्ग)

श्रद्धा, मनु को अंततः आत्मा के अधिवास ‘आनंद’ की ओर ले जाती है। वह मानव को ‘दर्शन’ सर्ग में कहती है;

“सबकी समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत! सुन माँ की पुकार!”
(कामायनी : ‘दर्शन’ सर्ग)

विषमता, भेदभाव, निजी सुख-दुःख तक सीमित रहने से यानि निजपरकता से आनंद की प्राप्ति नहीं होती।

“सब भेद-भाव भुलवा कर,
दुःख-सुख को दृश्य बनाता;
मानव कह रे! ‘यह मैं हूँ’
यह विश्व नीड़ बन जाता!”

उदात्तता की भूमि में ही, आनन्द का कमल खिलता है। सर्व प्रकार के भेदभावों से ऊपर उठकर, विश्वमानव बनकर, अखंड आनंद का रसास्वादन, भारतीय आदर्श हैं! यही हमारी संस्कृति है, जिसका प्रत्याख्यान, हिंदी के अमर कवि जयशंकर प्रसाद जी ने, मात्र 48 वर्ष की अल्प वय में किया है इसलिए वे हिंदी के सर्वोत्कृष्ट संस्कृति-कवि हैं, यह निश्चित सत्य है!

डॉ. सीता बिम्ब्राँ

**एसोसिएट प्रोफेसर (सेवानिवृत्त), हिन्दी विभाग
कमला नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
फोन नं. : 011-23829990**

युद्ध का संदर्भ: भाषा और साहित्य की भूमिका

“युद्ध तब होता है जब भाषा विफल हो जाती है”, मार्गट एटवुड के इस प्रसिद्ध कथन की प्रासंगिकता आधुनिक युग के संदर्भ में अनदेखी नहीं की जा सकती। युद्ध का अभिप्राय, उसके संदर्भ में भाषा और साहित्य की संकल्पना एवं भूमिका पर विचार-विमर्श हर युग के लिए उपादेय सिद्ध होगा। आज के संदर्भ में युद्ध का अर्थ – अभिप्राय रामायण-महाभारत की धारणा-विचारणा से काफी आगे निकल चुका है और जीवन के विविध क्षेत्रों में इसके अनेक रूप हमें दिखाई देते हैं। मानव-मन के ऊहापोह और आत्ममंथन का सम्बन्ध निस्संदेह आज के जटिल संघर्षमय जीवन से जुड़ा है। यही नहीं, मानवीय स्वार्थ और हिंसा की तेजी से बढ़ती हुई प्रवृत्ति हमें केवल सशक्त और कमजोर ही नहीं करती वरन् मानवीयता की सुरक्षा के प्रति प्रतिबद्धता की ओर बरबस हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। मनुष्य की आदिम प्रकृति, आधुनिक युग की वैज्ञानिक-भौतिक प्रगति केवल विकास की परिचायक न होकर मनुष्य के ‘अन-मानवीय होने के सत्य को भी सामने लाती है। यह स्थिति हमारी भारतीय परम्परा और चेतना के प्रतिकूल है, इसमें संदेह नहीं है, परन्तु ऐसे समय में क्या मौन रहकर स्थिति-दर्शन हमें कोई समाधान दे सकता है?—यह प्रश्न भी विचारणीय है। अपनी मानवीय संवेदनशील चेतना को जाग्रत करना और जीवित रखना हम सभी का सामूहिक उत्तरदायित्व है जिसके लिए सामूहिक एकजुट प्रयत्न अनिवार्य है। हमारी लुप्तप्राय-सुप्त संवेदनशीलता को जाग्रत – चेतना-सम्पन्न और प्रत्यक्षीकरण की क्षमता से संवर्द्धित करने की दिशा में पहल करना मानवीय चेतना के स्फुरण के साथ ही सम्भव है। इसके लिए युद्ध की विभीषिका से मुक्ति अनिवार्य है। भारतीय सामासिक-संस्कृति हमें त्याग और कर्म का संदेश देती है, इससे मानवीयता की भावना सुरक्षित और संरक्षित रहती है। नैतिक मर्यादा की पक्षधर हमारी परम्परा का मानव-जीवन-जगत से प्रगाढ़ संबंध रहा है। इसीलिए सहज मानवीयता के विरोधी तत्त्व यहां स्वीकार्य नहीं हैं। ‘मृत्यु को भी वरण’ कर-जीवन को भरने’ की आकांक्षा (निराला) हमारे लिए सहज रही है। ‘वैराग्य-साधन’ से प्राप्त होने वाली ‘मुक्ति’ (रवीन्द्र नाथ ठाकुर) हमारा अभीष्ट कभी नहीं रही। यही कारण है कि किसी भी समस्या का समाधान हम युद्ध में नहीं ढूँढते, न ही युद्ध कोई शाश्वत समाधान हमें दे सकता है – यह हमारी साहित्यिक-सांस्कृतिक परम्परा का एकांत ध्रुव सत्य है।

संस्कृति की परिचायक और उससे सम्बद्ध भाषा एक स्वतः स्फूर्त, परस्पर आपसी संबंधों से युक्त घटकों की सार्थक व्यवस्था है; स्वयं को परिभाषित करने के कारण वह महत्त्वपूर्ण एवं अंतिम सत्य की वाचक भी है क्योंकि प्रयोजनमूलक रुपान्तरण की अभूतपूर्व क्षमता भाषा में होती है। वह हर चुनौती का सामना कर उसका समाधान करने की क्षमता रखती है। भाषा की संकल्पना के मूल में भाषाविद् 'भाषिक-प्रतीक' की आधारभूत संस्थिति देखते हैं। 'भाषिक-प्रतीक' स्वयं में कथ्य और अभिव्यक्ति की एकात्म समन्विति है। एक भौतिक यथार्थ होने के साथ भाषिक-प्रतीक की जातीय-मानसिक संकल्पना में ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परम्पराएं भी अन्तर्भूत होती हैं। कथ्य का संबंध समझ लायक अर्थ से है, तो अभिव्यक्ति तुरन्त प्रत्यक्ष होती है। मानसिक-जातीय संकल्पना का भौतिक-यथार्थ और भाषिक प्रतीक से सीधा संबंध होता है, परन्तु भाषिक-प्रतीक और भौतिक यथार्थ का संबंध यादृच्छिक यानी आरोपित होता है। इस प्रकार भाषा अपनी सरलता में भी पर्याप्त जटिल होने से अर्थ-अनर्थ की असीम संभावनाओं से युक्त होती है। ध्यान हमें इस तथ्य पर देना चाहिए कि इस अर्थानर्थ का संबंध किससे है - भाषा से, या कि भाषा-प्रयोक्ताओं से? क्योंकि भाषा संप्रेषण-व्यवहार को समेट कर भी अपनी अस्मिता और सार्थकता को बनाए रख सकती है। अभिव्यक्ति पक्ष महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यही भाषा से श्रोता का सही साक्षात्कार है। इससे वह क्या अर्थ ग्रहण करता है, क्या समझता है, यह प्रश्न भी विचारणीय है। भाषा में प्रतीकन की क्षमता अन्तरित रहती है अतः कथ्य-अभिव्यक्ति पक्ष एक ही सिक्के के दो पहलुओं के समान यहां सतत विद्यमान रहते हैं। स्पष्ट है कि वक्ता द्वारा कथ्य की प्रभावपूर्ण, स्पष्ट अभिव्यक्ति के साथ श्रोता द्वारा उसका समुचित-अभीप्सित अर्थ-ग्रहण दोनों ही विचार-विनिमय की सफलता-सार्थकता के लिए जरूरी है।

भाषा के संबंध में एक विचारणीय प्रश्न यह भी है कि अगर हम भाषा की असमर्थता को युद्ध का मूलभूत कारण मान भी लें तो इसका संबंध किससे होगा? कथ्य की अभिव्यक्ति करने वाले वक्ता से, या फिर अभिव्यक्ति से अर्थग्रहण करनेवाले श्रोता से? यह प्रश्न अनदेखा नहीं किया जा सकता क्योंकि भाषिक-प्रतीक जब कथ्य एवं अभिव्यक्ति की समन्विति के रूप में ही सहजमेव प्रतीकन में समर्थ बनता है, तभी भाषा की यात्रा शुरू होती है। भाषा यदि स्वयं समर्थ है, वह अगर हर चुनौती का सामना कर सकती है तो क्या भाषा की असमर्थता का अनुचित प्रश्न श्रोता की समझ अथवा उसकी भाषिक क्षमता से जुड़ा है? यहां यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि संप्रेषण-व्यवहार के रूप में भाषा की यह यात्रा जिन

इकाइयों और प्रकार्यों को समेट कर चलती है, वे सभी परस्पर सम्बद्ध रूप से एक निश्चित सत्य या तथ्य हमारे सामने उद्घाटित करती है, फिर भाषा की असमर्थता का प्रश्न क्यों? निस्संदेह कथ्य की केन्द्रीयता और महत्ता स्वयंसिद्ध है क्योंकि जब हम कुछ कहना चाहेंगे, तभी उसकी अभिव्यक्ति की ओर प्रवृत्त होंगे, यानी वक्ता का प्रस्थान बिन्दु उसका कथ्य या अनुभूति है जो उसे अभिव्यक्ति-अभिमुखी बनाती है। श्रोता की भूमिका इसके बाद आती है, श्रोता की यात्रा अभिव्यक्ति से अनुभूति की दिशा में अग्रसर होती है। अभिव्यक्ति से अभिप्रेत अर्थग्रहण में श्रोता की पूर्वानुमानित समझ की भी महती भूमिका होती है। श्रोता अपनी समझ, संस्कार और प्रकृति के अनुरूप ही अर्थ ग्रहण में समर्थ होता है। अतः वक्ता-श्रोता दोनों की ही भाषिक क्षमता एवं दक्षता का अर्थग्रहण के साथ गहरा संबंध है, स्वयं भाषा की शक्ति और सामर्थ्य को अर्थ से जोड़ना समीचीन नहीं है। भाषा हमारी संस्कृति की परिचायक और जातीय अस्मिता की सूचक है, प्रतीकन उसकी प्रकृति है अतः वक्ता-श्रोता पक्ष का संप्रेषण-तार टूटने का उत्तरदायित्व भाषा की अपेक्षा उसके प्रयोक्ताओं के साथ जुड़ा होता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने एक लेख में यह चर्चा की है कि शास्त्र वक्ता की विविक्षा से अर्थ का संबंध जोड़ते हैं, जबकि द्विवेदी जी के अनुसार वक्ता की विविक्षा कुछ भी हो सकती है परन्तु श्रोता उसके संदेश को अपनी समझ एवं संस्कार के अनुरूप ही ग्रहण करता है। स्पष्टतः द्विवेदी जी के अनुसार अर्थ का संबंध वक्ता से न होकर श्रोता से ही होता है और तदनुरूप ही वह अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर संप्रेषण व्यवहार की शृंखला को आगे बढ़ाता है।

भाषा की प्रकार्यपरक परिभाषा उसे 'विचार-विनिमय के साधन' के रूप में देखती है जहाँ संप्रेषण-व्यवहार की अवधारणा स्वयं ही सिमट आती है। रोमन याकोब्सन ने संप्रेषण-व्यवहार के रूप में भाषा की छह इकाइयों और उनसे जुड़े छह प्रकार्यों का उल्लेख किया है। विचार-विनिमय के संदर्भ में संप्रेषण-व्यवहार के साधन भाषा में एक वक्ता और दूसरा श्रोता का होना जरूरी है। इन दोनों के बीच एक तीसरी इकाई संदेश है। संदेश की पूरी समझ के लिए समुचित संदर्भ यानी चौथी इकाई अपेक्षित है। परस्पर संवाद के लिए एक सरणि और सम्पर्क-कोड का होना जरूरी है। वक्ता से जुड़ा प्रकार्य भावात्मक है जबकि श्रोता से जुड़ा प्रकार्य बोधात्मक होता है। संदर्भपरक प्रकार्य तीसरा है और चौथा प्रकार्य सरणि से सम्बद्ध यानी फ़ैटिक (Phatic) है और सम्पर्क-कोड का प्रकार्य मेटा-लिंगुअल होता है। स्पष्ट है कि भाषा-संप्रेषण व्यवहार में वाक्य ओर अर्थ दोनों ही पक्षों की अपनी

अलग-अलग महत्ता एवं सार्थकता है। यह भी ध्यान में रखना होगा कि भाषा की व्यक्त अभिव्यक्ति भले ही वस्तुगत होती हो, फिर भी किसी अंश तक उसमें आत्म-तत्त्व का सन्निवेश अनिवार्यतः होता है, चाहे हम वक्ता या श्रोता किसी भी पक्ष से उस पर बात करें। भाषा जो कहती है, उसका वही अर्थ होता है या समझा जाता है, यह धारणा प्राथमिक स्तर तक ही संगत सिद्ध होता है, क्योंकि संदेश के साथ हम वक्ता-श्रोता की उपस्थिति और समझ को अनदेखा नहीं कर सकते। सबसे पवित्र और ऑर्गेनिक (organic) प्रतीकन-व्यवस्था के रूप में भाषा को देखना उसके प्रत्यक्ष पक्ष द्वारा कथ्य के किसी न किसी अंश की प्रतीति के सामर्थ्य को रेखांकित करती है। भाषा के मौखिक और लिखित दोनों ही रूपों की प्रकृति ऐसी होती है कि उन्हें विशिष्ट संरचनाओं के अर्थ पक्ष तक सीमित नहीं किया जा सकता। वस्तुतः प्रतीकन का सामर्थ्य भाषा को एक स्तर से ऊपर उठाकर दूसरे स्तर तक ले जाने में समर्थ होता है, एक भाषा को दूसरी भाषा में बदला भी जा सकता है। स्पष्ट है कि अर्थ में ट्रांस-कोडिंग (Trans-coding) की अपार संभावनाएं सन्निहित होती हैं।

साहित्य और भाषा का परस्पर अनिवार्य और घनिष्ठ संबंध है। साहित्य का अध्ययन हमें वह शक्ति और सामर्थ्य देता है जिससे हम भाषा की प्रॉपर्टीज़ (Properties) पर नया प्रकाश डाल सकते हैं। भाषा के बिना साहित्य की कल्पना असंभव है, क्योंकि भाषा मात्र माध्यम न होकर भाषा में अन्तर्लित है यानी भाषा ही प्रकारान्तर से साहित्य है, 'शाब्दिक कला' (वर्बल आर्ट) है। भाषा ही अपने सामान्य नॉर्म का अतिक्रमण कर विशिष्ट कलात्मक/साहित्यिक रूप धारण करती है। व्यक्त वस्तुगत रूप में प्रस्तुत होकर वह एक पूर्ण कृति के रूप में अपनी बात कहने को तत्पर रहती है, साथ ही वह विश्लेषण-विमर्श की चुनौतियों को भी स्वीकार करती है। यह वस्तुगत विश्लेषण अन्ततः अनिवार्यतः आत्म-गत भी होता है क्योंकि भावक के सच के साथ उसकी संस्कृति और परम्परा भी जुड़ी रहती है। भारतीय कला-साहित्य की चेतना मानव-जीवन और जगत से जुड़कर ही अपनी सार्थकता पाती है, अपनी जीवन्तता को अक्षुण्ण बनाए रखती है। साहित्य भाषा के भीतर ही जन्मता और उसी में अवस्थित भी रहता है। साहित्यिक विधाओं में भी सांस्कृतिक परम्पराओं एवं दृष्टि का योगदान रहता है जिसकी सीमा का निर्धारण किसी पाठ/कृति की अर्थ की संभावनाओं से सम्बद्ध रहता है। साहित्यिक कृति इस तरह भाषा-अध्ययन को संशोधित और विस्तृत भी करती है। साहित्यिक पाठ का सारभूत तत्त्व यह है कि वह भाषा की सीमा का अतिक्रमण कर एक

सशक्त, अंतिम प्रहार करने वाले हथियार की तरह है जिससे भाषा स्वयं आत्महन्ता बन जाती है। साहित्य स्वयं अपने अंदर छिपी एक आधारभूत दोहरेपन की प्रक्रिया को सामने लाता है क्योंकि उसका संबंध अनिवार्यतः अर्थ से भी रहता है, और अर्थ संसार को देखने-समझने और आत्मसात करने की, उसका पुनरान्वेषण करने की मानवीय प्रवृत्ति से सम्बद्ध है। साहित्यिक-कृति की प्रकृति अपने-आप में पूर्ण होती है यद्यपि वह संरचनात्मक दृष्टि से अपने सभी घटकों अथवा अवयवों के मात्र कुल योग से कुछ अधिक होती है। साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के संदर्भ में प्रतीक विज्ञान की अनिवार्य प्रासंगिकता स्वयं-सिद्ध है। कथ्य और अभिव्यक्ति की समन्विति से आगे बढ़कर प्रतीकन-सामर्थ्य से अनेक छिपे हुए सांकेतिक अनभिव्यक्त अर्थों की अभिव्यंजना कर पाना ही कला का अंतिम, एकांत ध्रुव-लक्ष्य होता है, इस अर्थ-सिद्धि में सममूल्यता की संकल्पना हमारी सहायक बनती है।'

भाषा से मिथक का भी सीधा संबंध होता है। मिथक को सब जानें इसके लिए उसका बताया जाना जरूरी होता है। इस दृष्टि से मिथक मानव-भाषा का अनिवार्य अंग है। हर बार जब मिथक को बताया जाता है, तो उसमें बाक् और पैरोल की सहस्थिति और उसका अतिक्रमण भी मिलता है। मिथक का 'ट्रांस-हिस्टॉरिकल' और 'ट्रांस-कल्चरल' होना उसकी व्याख्या में भी सहायक होता है। मिथक का सार-तत्त्व उसकी शैली में, उसके संगीत, वाक्य-विन्यास और उसकी कथा-रेखा में निहित होता है, इसलिए उस पर अनुवाद का कोई असर नहीं होता। मिथक वस्तुतः भाषा ही है जिसका प्रकार्य एक विशेष उच्च स्तर से सम्बद्ध है जहाँ अर्थ का प्रवेश और प्रवाह प्रारंभ होता है। साहित्य रचना में मिथक का जो प्रयोग मिलता है, वहाँ हमें प्रतीकन की दोहरी प्रक्रिया दृष्टिगत होती है। पहले स्तर पर हमें भाषिक-प्रतीक में सिमटे कथ्य और अभिव्यक्ति की समन्विति की स्थिति मिलती है जो 'डिनाटेटिव' (denotative) अर्थ का वाचक होता है। पहले स्तर का यही भाषिक-प्रतीक जब मिथक में अभिव्यक्ति-पक्ष बनकर एक दूसरा कथ्य साथ में जोड़कर पुनः अपनी समन्विति के माध्यम से दूसरे स्तर का भाषिक-प्रतीक बनता है तब वह 'कोनेटेटिव' (Conatative) बोधात्मक अर्थ की अभिव्यंजना करता है। स्पष्ट है कि मिथक में भाषा का प्रयोग इस रूप में किया जाता है कि जो कुछ व्यक्त रूप में कहा गया है उससे कुछ दूसरे ही अर्थ का बोध उसके माध्यम से हो। आर. बार्थ की यह संकल्पना मैटाफर और मैटानोमी (Metaphor and Metanomy) की संकल्पना देकर साहित्यिक रचना के विश्लेषण के संदर्भ में सहायक सिद्ध होती है।

‘क्लासिक्स’ पर विचार करते हुए मैरी बियर्ड² ने यह अभिमत दिया है कि ‘क्लासिक्स’ मात्र परम्परा-सम्बद्ध होने के नाते सम्मान नहीं पाते, उन पर विचार-विमर्श और संवाद होना भी बेहद जरूरी है क्योंकि स्थायित्व आते ही वे ‘रेवेरेन्स’ (reverence) की वस्तु बनकर ‘मृत’ हो जाते हैं। स्पष्ट है कि ‘क्लासिक्स’ में छिपी हुई विचार-विमर्श की अपार संभावनाओं को प्रश्रय दिया जाना चाहिए। इसके साथ ही ‘क्लासिक्स-संरक्षण’ की पुरातनपंथी विचारणा से आगे बढ़कर हमें उनकी पुनर्परिकल्पना करके उससे प्रेरणा ग्रहण करनी चाहिए, परन्तु यह प्रक्रिया कितनी दूर तक जाएगी, यह बहस का मुद्दा हो सकता है। सवाल यह है कि ये सभी पुनर्परिकल्पनाएं/पुनर्व्याख्याएं सांस्कृतिक-परम्परा पर केवल आक्रामक हमलों का एक रूप है, अथवा वे सर्वथा नाजायज हैं, या फिर उनके नकारात्मक रंगभेद की समर्थक हैं? इसके अतिरिक्त क्लासिक्स के अध्ययन में हमेशा से ‘इमेजैस’/बिम्बों की समस्या भी रही है। परम्परा की शक्ति के साथ-साथ क्लासिक्स की स्वतंत्र विचारणा को प्रश्रय दिया जाना चाहिए। एक अन्य स्मरणीय तथ्य यह भी है कि नर-अभिमुखी दृष्टि की प्रधानता के कारण नारी सांस्कृतिक परम्पराओं के बीच खुद को नहीं जोड़ पाती और खुद को अजनबी महसूस करती है। यही कारण है कि चुनौती के रूप में इन प्रश्नों का सामना करने की एक आधारभूत ललक नारी के मन में रहती है।

भारतीय साहित्य-परम्परा में रामायण-महाभारत जैसे ग्रंथों को क्लासिक्स की श्रेणी में रखा जाता है जो शाश्वत रूप से हर काल में मनुष्यों को प्रेरणा देने की शक्ति से सम्पन्न हैं। इन दोनों ग्रंथों की कथा के केन्द्र में युद्ध की आशंकापूर्ण अनिवार्यता संस्थित है। रावण और कौरव-पक्ष राम और पाण्डवों द्वारा भेजे गए संधि-प्रस्ताव को टुकराकर विफल कर देते हैं, इस ऐतिहासिक सत्य को नकारना असंभव है। वाल्मीकि के राम अपने मानवत्व के संस्पर्श के कारण इस समस्या का समाधान राजनीतिक दृष्टि से करते हैं, वहीं तुलसी के ईश्वर-रूप राम का समाधान भक्ति-मूलक है। इस रूप में वाल्मीकि और तुलसी के राम ‘कथ्य-संभाव्य’ (प्रिडिक्टेबल) हैं। हिन्दी के आदि रासों काव्यों में राजाओं की शौर्य-गाथाएँ हैं, अतः वहां युद्ध-संघर्ष सहज ही केन्द्रीय तत्त्व है। आधुनिक काल में मैथिलीशरण गुप्त के राम मनुजत्व का संदेश लेकर इस पृथ्वी को स्वर्ग बनाने के लिए अवतरित होते हैं क्योंकि कर्मस्थल होने से कवि पृथ्वी को स्वर्ग से श्रेष्ठ समझते हैं। निराला के ‘शक्तिपूजक’ राम शक्ति के अंक में रावण को विराजमान देखकर विचलित और हताश अवश्य होते हैं परन्तु ‘देखा भविष्य के प्रति अशंक’ दृष्टि वाले कवि

की अपराजेय संकल्प-शक्ति के कारण राम का कभी न थकने वाला, कभी न हारने वाला मन उन्हें हर समस्या को चुनौती समझकर उन पर विजय पाने की अजस्र शक्ति देता है और अन्ततः वे शक्ति से 'होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन' का आशीर्वाद पा लेते हैं। युद्ध की निस्सार विफलता और मानवीयता की शक्ति का समाख्यान प्रसाद की 'अशोक की चिन्ता' में भी मिलता है। यहां हम कवि नरेश मेहता के काव्य-नाटक 'संशय की एक रात' और उनके खण्ड काव्य 'महाप्रस्थान' तथा दुष्यन्त कुमार के काव्य-नाटक 'एक कंठ विषपायी' के आधार पर युद्ध के संदर्भ में भाषा-साहित्य की भूमिका पर विचार करेंगे।

'प्रस्थान-पूर्व', नरेश मेहता की कृति 'महाप्रस्थान' की भूमिका है। कवि जहां 'रामायण' को वैयक्तिक चक्रव्यूह की 'करुण-कथा' मानते हैं वहीं महाभारत उनकी दृष्टि से 'सामयिक व्यूहों-चक्रव्यूहों की अनन्त 'त्रासद महागाथा' है। "एक में दुःख भोगते मनुष्य का एकान्त बॉशी-रव है तो दूसरा युद्ध कामी मानवों का वुर्षष वाद्यवृंद। दोनों के केन्द्र में राज्य है। x x x राज्य, यह कैसा प्रतीक-विनायक है जो कि अपने सम्पर्क में आने वाले को केवल झुलसाता ही है। महाभारत में तो यह प्रतीक विनायक विकसिततम रूप में विद्यमान है।" महाभारत उनकी दृष्टि में 'मनुष्य-व्यवहार' का 'प्रथम एवं अंतिम कोष' है। 'मनुष्य मात्र की शाश्वतताएं' ये ग्रंथ द्वय 'विचार कालातीत' होने से 'मानवीय आश्वस्ति' के साथ 'इतिहास से कहीं अधिक सार्थक, उपादेय एवं महत्त्वपूर्ण' भी है। 'अतीत को वर्तमान' बनाकर 'भविष्य के रूप में' प्रस्तुत कर देना 'भगीरथ व्यक्तित्व' की मांग रखता है। किसी भी देश या जाति की 'जातीयता' उसकी 'मिथकता' है, मिथक 'जातीय मूल्यवत्ता के प्रतीक' हैं। वे चरित्र को अधिक से अधिक 'वैयक्तिक अथवा सामाजिक वैचारिकता, घटनात्मकता के प्रतीक' होते हैं। 'हिंसा से अहिंसा' की ओर भारतीयता की 'विकास यात्रा' शेष मानवता से भिन्न है क्योंकि उनकी यात्रा 'हिंसा से अहिंसा की ओर' रही है। सृष्टि को संगीत का पर्याय मानने वाले कवि नरेश मेहता को जहां 'रामायण' भारतीय ऐकान्तिकता की कोमलकान्त भैरवी या ब्राह्म-मुहूर्त के पूर्व की ब्रह्मणी विहाग' लगती है, वहाँ महाभारत 'भारतीय समवेतता का उदात्त एवं असंग भैरव या अग्नि-काषायी शंकरा' लगता है। 'सम्पूर्णता की दृष्टि से रामायण 'भारतीय जन-जीवन का माधुरी-भाव' है जो कि अगत्या महाभारत के 'निष्काम कर्म' की ही भांति 'निर्वेद' है।

पौराणिक चरित्रों के संबंध में कवि नरेश मेहता की दृष्टि में "राम और श्रीकृष्ण भारतीय मानसिकता के 'अक्षांश और देशान्तर हैं तथा इन दोनों की युति वाला

आग्नेय बिंदु ही शिव है।”³ राम को वे ‘अत्यन्त कोमल राग’ मानते हैं, राम के ‘आदिगायक’ वाल्मीकि ने आरंभ से ही राम के व्यक्ति में “कोमल, तीव्र और षड्ज स्वरो” का बहुत अधिक ध्यान रखा है। सम्पूर्ण राम-कथा जलरंग चित्र-शैली में प्रस्तुत हुई है। श्रीकृष्ण की कल्पना में चरित्र और मिथक का योग है, यहां गोपाल और पार्थसारथी की संधि है। नरेश मेहता की दृष्टि में उत्तर-वैदिक देवतावाद में श्रीकृष्ण ही ‘पौराणिकों की ऐसी देन’ है जो ‘वैदिक सृष्टि-पुरुष’ तथा इन्द्र के समीप है। उनकी ‘चरित्र-खनिजता’, मानवीय उदात्तीकरण के लिए सहज-सुलभ है। “युद्ध के चटख लल रंगों की धधकती पृष्ठभूमि में अनासक्त गीता-नायक का निर्वेद नील-वर्णी-व्यक्तित्व जिस अप्रतिम रूप में उकेरा या चित्रित किया गया है, उसका समकक्ष स्वयं भारतीय पौराणिकता में दूसरा नहीं है।”⁴ श्रीकृष्ण एक ‘पूर्ण परिपक्व-मिथक’ हैं। “युद्ध की आद्यन्त करुणा तथा राम के अकुंठ मर्यादा स्वरूप से शेष सभी गुणज्ञता श्रीकृष्ण के चरित्र की विभूति है। वैदिकता को छोड़कर जैन, बौद्ध और स्वयं सनातन धर्म-मिथकों में भी श्रीकृष्ण की परिकल्पना से अधिक विकसित दूसरा कोई मिथक नहीं।”⁵ शिव नरेश मेहता के विचार से ऐसे वैदिक देवता हैं जो ‘निरन्तर विकसित होते रहने वाले’ एकमात्र देवता रहे हैं। उनकी विकास यात्रा उन्हें ‘देवत्व का अतिक्रमण’ करने वाला सिद्ध करती है। ‘कालगत और देशगत सभी संभावित-असंभावित की मिथकता’ ही शिव हैं। वे स्वयं प्रकृति और पुरुष दोनों हैं। “इसीलिए सम्पूर्ण मानवी सभ्यता, संस्कृति, दर्शन और धर्म की मिथक अवधारणाओं में केवल शिव ही अर्द्धनारीश्वर हैं। पाशुपत रुद्र, सदाशिव भी हैं।”⁶ राम और रावण दोनों ही आराध्य हैं, उनके देवत्व का जिस प्रकार साधारणीकरण हुआ है उतना किसी महत्त्वपूर्ण केन्द्रीय देवता का नहीं है। कवि नरेश मेहता के अनुसार पुराणिकों ने शिव और इन्द्र के साथ स्पष्टतः पक्षधरता का व्यवहार किया है, और सनातन धर्म की नींव में ‘इन्द्रमेध’ सम्पन्न हुआ है। ‘आर्य सभ्यता के परमाराध्य’ देवराज इन्द्र की ‘जिजीविषा, चरित्र एवं व्यवहार’ अत्यन्त ‘मानवीय’ था। पर पुराणिकों ने जहाँ राम-कृष्ण की श्री से हमें मंडित करने के साथ इंद्र से श्री-हीन भी किया है। कवि नरेश मेहता इन जातीय मिथकों एवं जातीय-कथाओं की सार्थकता आज के जीवन-संघर्ष के संदर्भ में भी मानते हैं। ‘संशय की एक रात’ में युद्ध की अनुपादेयता को केन्द्र बनाकर ‘राम के प्रज्ञा-व्यक्तित्व को प्रस्तुत’ करने की चेष्टा कवि ने की थी। ‘महाप्रस्थान’ में ‘राज्य, राज्य-व्यवस्था और उस व्यवस्था के दर्शन की अमानवीय प्रकृति एवं प्रवृत्ति’ को स्पष्ट करना चाहा है। इसीलिए उन्होंने ‘कथा और कथा-पुरुषों की निर्वेद स्थिति एवं मनःस्थिति को ही अपने दोनों काव्यों में चुना क्योंकि निर्वेद की

स्थिति में ही मानवीय प्रज्ञात्मकता अपने विवेक रूप में होती है। यह अनासक्त मनःस्थिति ही अत्यंत स्पष्ट रूप में समस्याओं के उलझे सूत्रों को विरोधी गतिविधियों को देख सकती है। आज के वर्तमान संदर्भ में इनकी प्रासंगिकता होना ही रचनाकार के श्रम की सार्थकता को सिद्ध कर सकती है।

कवि नरेश मेहता 'संशय की एक रात' (काव्य-नाटक) 'आधुनिक कविता की उपलब्धि' है (लक्ष्मीकांत वर्मा) जहाँ आधुनिक युग के मानव के संत्रास, आत्म-पीड़न और संशय का आलेख है। 'संक्रमण-काल के जागरुक' कवि की यह रचना आज के संदर्भ में युद्ध और शांति के सवालियों के साथ इतिहास की समझ की आवश्यकता को भी सामने लाती है। नरेश मेहता के 'प्रज्ञा-पुरुष' राम 'आधुनिक चेतना के प्रतिनिधि' और ऐसे 'सनातन-प्रतीक' भी हैं जो विपरीत मान्यताओं और मूल्यों के बीच सही दृष्टि की खोज करके समस्या के समाधान का प्रयास करते हैं। इसके मूल में राम का ऐकान्तिक आत्म-मंथन है जो सामूहिक दायित्व-बोध की चेतना से युक्त होकर उनकी संवेदना को 'इतिहास-मुक्त' बना देता है। जनतांत्रिकता को सर्वोपरि मानने वाले कवि की मानवीय दृष्टि यहां दो सवाल उठाती है: एक - क्या युद्ध अनिवार्य है? क्या युद्ध सभी समस्याओं का एकांत और अंतिम समाधान है? व्यक्ति और समूह को लेकर मर्यादा-प्रेरित दूसरा सवाल यह है कि क्या व्यक्तिगत विकल्प सामूहिक आचरण का परिचायक बन सकता है? क्या व्यक्तिगत व्यक्तित्व के निर्णय को सार्वजनिक निर्णय का स्वरूप माना जा सकता है? 'सीता-मुक्ति' राम की नितान्त निजी, व्यक्तिगत समस्या है; जबकि हनुमान के लिए यह जनतांत्रिक समस्या है क्योंकि सामान्य जन के लिए सीता उनकी 'अपहृत स्वतंत्रता' की प्रतीक है। कवि ने राम के माध्यम से विपरीत मूल्यों एवं मान्यताओं के बीच 'पूरी मानवता को सार्थकता' देने वाले मूल्यों के अन्वेषण के लिए 'पुनर्मूल्यान्वेषण' किया है और एक सही दृष्टि अपनाने की प्रेरणा दी है। आधुनिक चेतना से जुड़े कवि नरेश मेहता के राम की विशेषता है - उनका सामूहिक दायित्व-बोध-संसिक्त ऐकान्तिक आत्म-मंथन; और यही उनकी संवेदना की विशेषता भी है। इसी से वे 'इतिहास के हाथों' का 'बाण' बनने की अपेक्षा 'अंधेरों में खो जाना' श्रेयस्कर समझते हैं और अन्ततः 'इतिहास-मुक्त' होकर 'सीता-मुक्ति' के वैयक्तिक विकल्प को सामूहिक, सार्वजनिक बनाकर निस्संग हो जाते हैं, क्योंकि "अब मैं निर्णय हूँ सबका"।

राम की यह 'समूह-संघता' की प्रवृत्ति तभी सामने आती है जब 'कल' होने वाला युद्ध उनके मन में आज, आज ही पूरा-का-पूरा घटित हो चुका है। यही राम की

आधुनिक चेतना की विशेषता है। उनकी कर्मनिष्ठा ही उनका कर्मयोग है। राम के विराटत्व के साथ लक्ष्मण का लघुत्व और हनुमान का 'वानरी-सहजत्व' मिलकर कृति की सममूल्यता में संतुलन बनाए रखता है। व्यक्ति और सार्वजनिक दुविधा में जहाँ राम का विराटत्व है वहीं इतिहास की सममूल्यता में संतुलन बनाए रखता है। व्यक्ति और सार्वजनिक दुविधा में जहाँ राम का विराटत्व है, वहीं इतिहास की प्रतिबद्धता और उसकी मुक्ति के संघर्ष में, युद्ध और शांति के विकल्प के संत्रास में भी है। लक्ष्मण का लघुत्व परम्परागत अर्थवत्ता में अर्थ के नए स्तर जोड़ता है। हनुमान-जामवन्त के माध्यम से कवि ने सहज मानवता की समस्या उठाई है, वे लक्ष्मण को सत्य-दर्शन करवाते हैं। साथ ही वे यही बात जटायु से कलात्मक सतर्कता से कहलवाते हैं कि वैराग्य का महानियम "स्थितियाँ पैदा करता है"। यही नहीं, वे दो क्षणों के बीच बिखरे अनन्त क्षणों के अन्तराल को समझने की आवश्यकता पर बल देकर उन्हें अपने परिताप से मुक्ति का मार्ग भी दिखाते हैं। दो विरोधी मूल्यों की टकराहट से दो सत्य, दो आस्थाओं के बीच 'व्यक्ति में ही अप्रमाणित व्यक्ति' पैदा होता है। इसी से पुनर्मूल्यान्वेषण की प्रेरणा राम-विभीषण को मिलती है। सत्यासत्य का निर्णायक कौन है - यह प्रश्न राम को विचलित करता है, परन्तु वे 'इतिहास-पुरुष' होने के कारण पलायन करने में असमर्थ हैं, वे संशय को नियति न मानकर सामूहिक निर्णय में बदलकर निस्संग हो जाते हैं क्योंकि उनके मन में 'कल का युद्ध आज ही संभावित' हो चुका है। उनका संकल्प 'केवल युद्ध को बचाने' और 'मानव में श्रेष्ठ जो विराजा है' उसे बचाने का है। तभी वे कहते हैं: "मानव-एकता यदि बिना युद्धों के नहीं है सत्य, तब एक गहरा प्रश्न है, संकट, प्रत्येक प्रज्ञित के लिए।" राम की कामना 'सत्य' पाने की है, पर युद्ध या खडग से नहीं। 'मानव का मानव से सत्य' उनका अभीप्सित है। युद्ध की अनिवार्यता को समझकर भी राम का प्रश्न है: "इस युद्ध के उपरान्त होगी शांति, इसका तो नहीं है विश्वास।" क्योंकि यह युद्ध "संभव है, अनागत युद्ध का कारण बने।"

विभीषण का विस्थापित व्यक्तित्व युद्ध का समर्थन करता है, मानवता की दृष्टि से नियति के विरुद्ध लिया गया उनका निर्णय व्यंग्यात्मक स्थिति उत्पन्न कर एक प्रश्न उभारता है कि इतिहास उसे क्या कहकर पुकारेगा? विभीषण युद्ध को दर्शन, अंतिम मार्ग समझते हैं जिससे स्वत्व-अधिकार अर्जित किया जा सकता है। उनका प्रश्न है: "क्या युद्ध नियति है, हमारे सारे शुभाशुभ कर्म की?" उनकी एक ही समस्या है: काम की सामूहिक अंधता को वैयक्तिकता में और संशय की

वैयक्तिक अंधता को सामूहिकता में बदलना। मूलतः विद्रोही प्रकृति के विभीषण का निर्णय उनके अकेले का है जहाँ संदर्भ बदलने से उन्हें 'दुर्भाग्यपूर्ण सौभाग्यी युग' के चिंतन का समाधान भोगना पड़ता है। हनुमान 'युद्ध-भाक' से 'लंका-युद्ध' न लड़ने के पक्षधर हैं, पर वे सीता-मुक्ति को जन-सामान्य की 'अपहृत स्वतंत्रता' होने के कारण युद्ध को जरूरी समझते हैं। वे समझते हैं: "संभव है, हमारे कारण ही अनागत युद्धों की नींव पड़े, पर इस डर से क्या हम त्याग और अधिकार छोड़ दें!"

चुके हुए वैभव की स्मृति से युक्त व्यक्ति की अभिव्यक्ति के साथ कवि नरेश मेहता के इस काव्य-नाटक में एक 'अजन्मे इतिहास की असमर्थता' भी परिव्याप्त है। प्रश्नों से जन्मे संकल्प-विकल्प और तज्जनित मूल्य, टूटे हुए व्यक्तित्व लेकर विविध पात्र यहां एकत्र हैं। राम की व्यक्ति-समूह की समस्या से जुड़ा उनका संशय, लक्ष्मण की कर्मयुक्त विवशता, इतिहास-मुक्ति की कामना से उपजे नए मूल्य-संदर्भ वस्तुतः आत्मविश्वास और जागरूकता की स्वीकृति है, जिजीविषा की संस्थिति हमें यहाँ मिलती है। संघर्ष के प्रतिनिधित्व का निर्णय अनिवार्य है, और मौलिक भी है। ये सभी पात्र 'आधुनिक जटिल संवेदना के वाहक' और 'इतिहास-व्यंग्य के भोक्ता' हैं जो युद्ध और शांति के मूल्यों को नया भाव-विस्तार प्रदान करते हैं और युद्ध का प्रत्यक्षीकरण संभव बनाते हैं।

नरेश मेहता का खण्डकाव्य 'महाप्रस्थान' महाभारत के युद्ध के बाद पाण्डवों की अंतिम-यात्रा के परिप्रेक्ष्य में युद्ध की त्रासद विफलता पर चिंतन-मनन है जहां युधिष्ठिर के माध्यम से सभी प्रश्नों का समुचित समाधान दिया गया है। कवि आधुनिक जीवन के संघर्ष के संदर्भ में 'जातीय मिथकों और कथाओं की सार्थकता' मानते हैं। यहां 'राज्य, राज्य-व्यवस्था और उस व्यवस्था के दर्शन को अमानवीय प्रकृति एवं प्रवृत्ति को स्पष्ट' करने का प्रयत्न किया गया है। अपने इस 'विवेक-काव्य' में कवि ने 'कथा और कथा-पुरुषों की निर्वेद स्थिति एवं मनःस्थिति' का चयन किया है क्योंकि इसी स्थिति में मानवीय 'प्रज्ञात्मकता' अपने विवेक रूप में होती है। इस अनासक्त मनःस्थिति में समस्या के सभी सूत्रों को विरोधी-प्रतिविधियों को देख सकता है। 'यात्रा, रवाहा और स्वर्ग' शीर्षक तीन सर्गों में कवि महाभारत के युद्ध की समाप्ति के बाद 'धर्म-चक्र से झरते हुए युद्धों की दुर्दम्य तुमुलता, इतिहास के रक्त-स्नात उत्थान-पतन, जयघोषों-चीत्कारों के हर्ष-शोक, ऋतुओं की लालित्य-रौद्रता, सागर की चांद्रिक आकुलता⁷ आदि सभी की सार्थकता

‘चक्रायित-प्रतिचक्रायित’ कालचक्र में मानते हैं, इसके नियन्ता के बारे में प्रश्न भी करते हैं।

‘पाण्डव-दुर्भाग्य के आदि-स्रोत’ युधिष्ठिर धर्मराज होकर भी ‘द्यूत-क्रीड़ा’-प्रिय और युद्ध में ‘अश्वत्थामा-नर या कुंजर’-प्रसंग में असत्य का आश्रय लेते हैं। नरेश मेहता के विचारानुसार जब ‘मूल्य और मानवी उदात्ताएं’ सार्वजनिक जीवन में ‘शेष’ हो जाती हैं, तभी युद्ध होता है, युद्ध-घोष कोई भी करे - युधिष्ठिर या कृष्ण - क्योंकि “युद्ध का एकमात्र तर्क है -/ विजय के सम्मुख/मूल्यवानता का क्या है अर्थ?”⁸ युधिष्ठिर का युद्ध-प्रताड़ित-अंतर इस सत्य से अपने स्वत्व को दाँव पर लगा देता है। युधिष्ठिर के वैश्वानर पथ पर प्रस्थान से कथा प्रारंभ होती है। ‘आहत-तन, अपमानित मन’ भीम की विरोध-अग्नि बंधु-बांधवों पर की समिधा पाकर भी शांत नहीं हुई है, युद्ध प्रतिपग पर-युद्ध और केवल युद्ध, षड्यंत्र - द्वन्द्व - बैर का दानावल अब भी उनकी शिरा-आशिरा में सुलग उठता है। कवि यहाँ प्रश्न करते हैं: ‘युद्ध क्या ऐसे ही होते हैं समाप्त? / जब शस्त्रों से वे शेष कर दिए जाते हैं / युद्ध-स्थल में - / तब अन्तस्तल में युद्ध / ऽशेष हो / जीवन-भर चलते रहते हैं।’⁹ ‘संशय की एक रात’ के राम जहाँ रावण से युद्ध के पूर्व अपने अंदर पूरा युद्ध लड़ चुकते हैं, वहीं ‘महाप्रस्थान’ में महाभारत के युद्ध की समाप्ति के बाद पाण्डवों को मथित-विगलित-विचलित करने वाला यह प्रश्न उनके सामने अटल खड़ा है: “पाण्डवों का राज्यारोहण था / या था शव-साधन कापालिक का?”¹⁰ सत्य-मूर्ति, निस्पृह अर्जुन की दृष्टि में युधिष्ठिर के प्रज्ञा-चक्षु होने पर भी विनाश का कारण उनका ‘विकल्पी-मन’ और उनकी ‘कर्म-पंगुता’ है। विदुर भी अन्याय का प्रतिकार नहीं कर सके जो जरूरी था क्योंकि ‘राज्य शीलवान की सज्जन भाषा नहीं समझता।’ इसी से अर्जुन के अंतर में ‘धू-धू करता सारा जीवन सुलग’ रहा है; और वे प्रश्न करते हैं: “कैसा था वह युद्ध -/... सब स्वाहा हो गए / युद्ध के उदरज्वाल में।” नकुल-सहदेव पाण्डवों की मीन-मकर छायाएं हैं, स्वरूप और ज्ञान के प्रतीक हैं। अंत में है द्रौपदी: धर्मराज की सेविका, भीम की स्वामिनी और अर्जुन की एकनिष्ठ प्राण-प्रिया। आत्मालापि-संवाद-शैली में प्रत्येक पात्र की मनःस्थिति-मनोभावना का चित्रण उनके प्रश्नों और शंकाओं के साथ कथा-यात्रा को सही दिशा में अग्रसित होने की प्रेरणा देता है।

संवाद-शैली में रचित दूसरे ‘स्वाहा’ पर्व में कवि नरेश मेहता ने युधिष्ठिर के माध्यम से सभी पात्रों की जिज्ञासा का समाधान मानव-हित की दृष्टि से किया है।

उनकी मान्यता है कि ऊर्ध्वता पर पहुँचकर सारी सामूहिकता वैयक्तिकता में परिणत हो जाती है।¹¹ वे निर्भय होने को हिमालय होना और अनासक्ति को स्वर्ग यानी 'हिमालय की आत्मा' मानते हैं।¹² युद्धोपरान्त 'युद्ध और प्रतिहिंसा की ज्वाला' के स्मरण को व्यर्थ मानकर वे इस दावानल में किसी को भी सुरक्षित नहीं देखते। युधिष्ठिर मनुष्य के भीतर विराजे देवता पर विश्वास रखते हैं क्योंकि वे 'राज्यान्वेषी' न होकर 'मूल्यान्वेषी' हैं।¹³ द्रौपदी जहाँ 'व्यक्तित्व के कवच-कुण्डल उतार कर देना' कठिन कर्म मानती है और सीता की अग्नि-परीक्षा के समान अपनी 'हिम-परीक्षा' के लिए प्रस्तुत है क्योंकि पुरुष के लिए नारी अप्राप्य होकर अविश्वास की परिचायक बनती है।¹⁴ अर्जुन के लिए 'युद्ध' 'सर्वनाश का अव्यक्त चीत्कार' है।¹⁵ इसीलिए वे स्वयं 'पुरुषार्थ की सार्थकता' के संबंध में प्रश्नाकुल हैं।¹⁶ वीरता के लिए शस्त्र आवश्यक नहीं हैं क्योंकि 'केवल एक भाषा संसार में नहीं है।¹⁷ कर्तव्य को तात्कालिक धर्म समझकर ही युधिष्ठिर ने युद्ध को स्वीकार किया था।¹⁸ एक स्थिति पर पहुँचकर वे दुःखी होने को 'अमानवीय' समझते हैं।¹⁹ वस्तुओं से हीन होने का अर्थ उनके लिए 'व्यक्तित्व से सम्पन्न होना' है।²⁰ युद्ध से जन्मे राज्य में युद्धोपरान्त वर्ण-संकरता बढ़ती है।²¹ युधिष्ठिर राज्य एवं राज्य-व्यवस्था के दो आधार-स्तम्भों को युद्ध और आतंक मानते हैं जो मनुष्य की आदिम प्रवृत्ति से सम्बद्ध है, जो सामाजिकता का पर्याय बनेगा।²² राज्य और उसकी व्यवस्था ही मानवीय दुःखों का कारण है, उसका आधार है, जबकि समाज धर्म के नियमों पर आधारित होता है।²³ जिसका उत्सव राज्य नहीं, व्यक्ति की प्रज्ञा में होता है।²⁴ कवि की दृष्टि में "कोई भी भाषा पूर्ण नहीं होती"।²⁵ फूल का एकाकी पत्ता भी अरण्य की सामूहिकता की शोभा होती है। राजनीति को आप 'विषकन्या की आत्मजा' कहते हैं।²⁶

युधिष्ठिर के आत्मचिंतन के रूप में प्रस्तुत तीसरा अंतिम 'स्वर्ग' पर्व 'सृष्टि करुणा' के बदले स्वर्ग को भी अस्वीकार करने की बात करता है।²⁷ 'धूप का उत्सव' उनके लिए 'प्रज्ञा-अग्नि का स्तवन' बनकर आता है और एकान्त में समाप्त होने वाले हर कोलाहल की आहट से खुद को सर्वथा मुक्त कर लेना युधिष्ठिर के लिए यज्ञ है।²⁸ खुद को जाग्रत करने का आह्वान कर युधिष्ठिर स्वयं को 'अंतिम अधूरा श्लोक' मानते हैं, जानते हैं कि धर्म-चक्र का साक्षात् करने के लिए वे ही शेष हैं।²⁹ निर्वेद के प्रशांत बिन्दु की नींव पर इतिहास और गाथाओं का कोलाहल शेष होता है। प्रज्ञा-रूप हो युधिष्ठिर शेष देह-भाव को झर देने के लिए प्रस्तुत हैं क्योंकि 'देह-बोध' त्यागकर ही पृथ्वी 'शिव के कालजयी ललाट-सी'

शुभ्र हिमालय हो जाती है।³⁰ हिम को 'सारस्वत वीणा का गान' कहकर कवि उसे 'श्वेत फूलों वाला एक स्वर्गोत्सव' कहते हैं³¹, इसी से आत्मा में हिमालय का वरण श्रेयस्कर है।³² 'युद्ध-वैभव' से 'क्षत-विक्षत' युधिष्ठिर का अगाध करुणा से साक्षात् करवाने वाला श्वान ही उनका एकमात्र सहयात्री है। हिमालय का उत्तर-द्वार 'देवताओं की देह-गंध-युक्त' है, 'यही स्वाहा है।' युधिष्ठिर की प्रज्ञा अग्नि के आह्वान में हिमालय 'स्वाहा' कर रहा है।³³

स्पष्ट है कि कर्म, त्याग और शांति की पक्षधर भारतीय संस्कृति ने सदैव युद्ध की उपादेयता, आवश्यकता एवं अनिवार्यता को प्रश्न-चिह्नित कर उसकी सार्थकता को अस्वीकार ही किया है। पुराण और उपनिषदों की धर्म-चेतना की गंध से आप्लावित नरेश मेहता का यज्ञ-पूत सौम्य व्यक्तित्व भारतीय-सुमेधा से सदैव आश्वस्त रहा है।

'एक कंठ विषपायी' दुष्यन्त कुमार का काव्य-नाटक है। यहाँ जर्जर रूढ़ियों और परम्पराओं के शव से चिपके हुए लोगों' के संदर्भ में आधुनिक पृष्ठभूमि में 'नए मूल्य तलाशने' का प्रयास कवि ने किया है। इसके लिए 'सर्वहत्' नामक पात्र की परिकल्पना कर उसे प्रजापति दक्ष की राज्य-लिप्सा और दक्ष एवं शिव की युद्ध की मनोवृत्ति से आहत दिखाया गया है, वह अनायास ही उभरकर 'आधुनिक प्रज्ञा का प्रतीक' बन जाता है। प्रजापति-दक्ष का यज्ञ-आयोजन विष्णु के अभिमत से वस्तुतः युद्ध-आयोजना है; परम्परा-भंजक शिव भी इसी माध्यम से देवताओं को युद्ध का आमंत्रण देते हैं क्योंकि वे 'सती-दाह' को 'देवों की दुरभिसंधि' मानकर उसका अर्थ 'केवल युद्ध' समझते हैं। कवि यहाँ इस शाश्वत सत्य को भी उजागर करना चाहते हैं कि जब भी कोई नया मूल्य परम्परा का खण्डन करके उठता है तो लोग उसे 'मिथ्या' कहते हैं। चार अंकों का यह काव्य-नाटक 'सर्वहत्' के माध्यम से यह सत्य स्थापित करना चाहता है कि प्राणों की आहुति का हेतु युद्ध नहीं, वरन् सत्य है। राज्य-लिप्सा और युद्ध की मनोवृत्ति का शिकार सर्वहत् केन्द्रीय पात्र बन जाता है जो युद्ध को व्यस्तता का नाटक मानता है।

ब्रह्मा युद्ध द्वारा प्रजा का रक्त बहाकर प्रजा की रक्षा को समुचित और संभव नहीं मानते। उनकी दृष्टि में 'जन-विवेक की वध की बलिवेदी' पर सब कुछ वार देना अभीष्ट नहीं है क्योंकि युद्ध वस्तुतः सामूहिक आत्मघात है; मात्र 'विशिष्ट परिस्थितियों' में ही युद्ध 'समाधान का संभव कारण बन सकता है; स्वयं में वह किसी भी समस्या का समाधान नहीं हो सकता।³⁴ प्रश्न यह है कि क्या युद्ध स्वयं

के कोई उपलब्ध सत्य है? कदापि नहीं, तभी तो ब्रह्मा 'दृष्टि के बिना अकारण युद्ध न ठानें' का अभिमत सामने रखते हैं। यही नहीं, वे जानते हैं कि जीवन में 'अनाहूत' 'समस्याएं' ही आती हैं।

विष्णु इसी के अनुरूप पहले कर्म और फिर उसकी व्याख्या होने का उल्लेख करते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में 'संयम और श्रम' से ही 'सत्य का ताप' झिलता है और उद्घाटित भी होता है; उसी से सृजन का सुख मिलता है। विष्णु 'विषपायी कंठ' वाले शिव की अपार क्षमता से परिचित हैं अतः अंत में जो बाण उन्होंने छोड़ा था, वह एक तो प्रणाम रूप था जिससे युद्ध टल जाए और वही युद्ध की चुनौती स्वरूप भी था। विष्णु को पूरा विश्वास था कि शिव युद्ध नहीं करेंगे और शांत हो जाएंगे।

इन्द्र अन्याय की प्रबलता, सत्य की विफलता, शौर्य की विवशता और असुरों की प्रबलता से धैर्य की समाप्ति पर युद्ध के ही एकमात्र शेष विकल्प होने की बात करते हैं। शंकर देवों को इस युद्ध का नियंता मानते हैं, प्रेयसी की मृत्यु का निमित्त प्रकारान्तर से उन्हें मानते हैं। यही कारण है कि वे 'उनको क्षमा नहीं कर' सकते। इस प्रकार 'अनाहूता' दुहिता सती के यज्ञ में सम्मिलित होने, जमाता शिव के अनामंत्रण-अवमानना को युद्ध के संभाव्य-संकट से जोड़कर कवि ने सर्वहृत जैसे जन-सामान्य के प्रतीक-पात्र द्वारा युद्ध की निरर्थकता एवं सत्य की एकांत प्रतिष्ठा का संदेश दिया है।

नरेश मेहता एवं दुष्यन्त कुमार की ये कृतियां मुक्त कंठ से 'युद्ध' की अस्वीकृति की घोषणा करती हैं और अनावश्यक रक्तपात को 'जन-विवेक' की हत्या का परिचायक मानती हैं। परिस्थितियों को अपने ढंग से परिभाषित करने के कारण जब संवाद-सूत्र उलझते या टूट जाते हैं तभी विषम परिस्थितियां हमें तुरंत आवेश में निर्णय लेने को बाध्य करती हैं जिनसे अनावश्यक हिंसा का भाव पनप कर प्रबल से प्रबलतर होता जाता है। भारतीय मनीषा कभी भी मानवता और शांति की विरोधी न रही हैं और न भविष्य में कभी रहेगी। हमारा साहित्य और कलाएं भी अपनी इसी सांस्कृतिक धरोहर की पक्षधर रही हैं और रहेंगी भी। भाषा, संस्कृति का अनिवार्य अंग है अतः वह परम्परा से जुड़कर ही प्रगति में विश्वास रखती है। भाषा नहीं, भाषा के प्रयोक्ता और उनकी समझ ही युद्ध का प्रश्न और उसके संभावित समाधान पर विवाद का निनाद करती रही है। यह स्वाभाविक भी है और चिन्तन-मनन की दृष्टि से अभीष्ट भी है।

पाद-टिप्पणियाँ: संदर्भ-सूची

1. दिल्ली विश्वविद्यालय में कम-ज्ञात-भाषाओं पर जो खोजपूर्ण कार्य 'क्लस्टर इनोवेशन केन्द्र' ने किया है। प्रश्नावलियों और इंटरनेट की सहायता से 'रैपिड-शब्दावली-संचय' की कार्यशाला के माध्यम से उससे भाषा के शब्द-भण्डार पर भौगोलिक स्थिति का प्रभाव और शब्दों के अस्तित्व में सममूल्यता के सिद्धांत का व्यवहार किए जाने के प्रमाण मिलते हैं; टाइम्स ऑफ इंडिया, 21 फरवरी 2014, पृ.-
2. टाइम्स ऑफ इंडिया, 14 फरवरी 2014
3. महाप्रस्थान, पृष्ठ 16
4. वही, पृष्ठ 17-18
5. वही, पृष्ठ 18
6. वही, पृष्ठ 18
7. महाप्रस्थान, पृष्ठ 32;
8. वही, पृष्ठ 39;
9. वही, पृष्ठ 42;
10. वही, पृष्ठ 42;
11. वही, पृष्ठ 65;
12. वही, पृष्ठ 72;
13. वही, पृष्ठ 86;
14. वही, पृष्ठ 75;
15. वही, पृष्ठ 82;
16. वही, पृष्ठ 89;
17. वही, पृष्ठ 87;
18. वही, पृष्ठ 88;
19. वही, पृष्ठ 92;
20. वही, पृष्ठ 93;
21. वही, पृष्ठ 95;
22. वही, पृष्ठ 96;
23. वही, पृष्ठ 97;
24. वही, पृष्ठ 95;

25. वही, पृष्ठ 98;
26. वही, पृष्ठ 100;
27. वही, पृष्ठ 128;
28. वही, पृष्ठ 122;
29. वही, पृष्ठ 124;
30. वही, पृष्ठ 125;
31. वही, पृष्ठ 126;
32. वही, पृष्ठ 127;
33. वही, पृष्ठ 128;
34. यहां सवाल उठता है कि भाषा के सामर्थ्य या उसकी असफलता को युद्ध का कारण कैसे माना जाए? अथवा भाषा को युद्ध का जिम्मेदार क्यों ठहराया जाए? भाषा के कई स्तर और कई घटक उसे संश्लिष्ट-जटिल बनाते हैं, यह भी हमें याद रखना होगा।

I. हिन्दी संदर्भ-ग्रंथ सूची

1. नरेश मेहता, 1962: संशय की एक रात, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर प्रा. लि., गिरगाँव, बम्बई-4, प्रथम सं.
2.: महाप्रस्थान;
3. दुष्यन्त कुमार: एक कंठ विषपायी;
4. हजारी प्रसाद द्विवेदी: 'देवदास'; (निषेध)

II. English

1. Bloomfield, L: 1933: Language, New York, Hott.
2. Chapmun, R: 1973: Linguistics and Literature; London, Edward Arnold Ltd.
3. Chatman, S. & Levin, R: 1967: Essays on Language of Literature; Boston, Houghton Mifflins. Co.
4. Hockett, C.F.: 1958: A Course in Modern Linguistics, New York, Manhattan.
5. Hymes, D: 1971: The Communicative Competance; in Pride and Homes (Ed.)
6. Jakobsen, R: 1960: Linguistics and Poetics, in T.A. Sebeaok (Ed.), 1960

7. Katz, J.J.: 1962: The Philosophy of Language; New York, Harper and Row.
8. Olsen, S.H.: 1979: The Structure of Literary Understanding; Cambridge.
9. Saussure, F.: 1966: A Course in Modern Linguistics; New York, Megraw Hill.
10. Srivastava, R.N.: 1973: Liagua-Aesthetic Approach to Art Symbol;

III. News Paper

1. Times of India; 17 Feb. 2014; If classic become static objects of reverence; Mary Beard.
2. Times of India; 21 Feb. 2014; D.U. students develop oppic for uncommon languages.

डॉ. विभा गुप्ता

एसोसिएट प्रोफेसर (सेवानिवृत्त), हिन्दी विभाग

कमला नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

मोबाइल नं. : 9811808104

भारतीय साहित्य और राष्ट्रीय चेतना

“चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ
चाह नहीं प्रेमीमाला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ
मुझे तोड़ लेना वन माली, उस पथ पर तुम देना फेंक
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जाएं वीर अनेक॥”

जिन दिनों हिंदी में ‘एक भारतीय आत्मा’ की उपाधि से विख्यात ‘माखनलाल चतुर्वेदी’ उपर्युक्त शब्दों में ‘पुष्प की अभिलाषा’ व्यक्त कर रहे थे और राष्ट्रीय कवि ‘दिनकर’ शहीदों के जयगान हेतु अपनी लेखनी से अनुरोध कर रहे थे -

“कलम आज उनकी जय बोल
जो चढ़ गए पुण्य वेदी पर
लिए बिना गरदन का मोल
कलम आज उनकी जय बोल!”

लगभग उन्हीं दिनों ध्रु दक्षिण में तमिल भाषा में, भारत की भावात्मक एकता के पुरोधे ‘सुब्रह्मण्य भारती’ अपनी ओजस्वी वाणी में देश की आज़ादी के तराने रच रहे थे -

“कब बुझेगी हमारी स्वतंत्रता की प्यास? कब मिटेगा
हमारा यह दासता मोह? कब गिर पड़ेगी ये बेड़ियाँ
माँ के करों से? कब दूर होंगी हमारी यातनाएं?”

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में समस्त भारतीय साहित्य में राष्ट्रीय चेतना की गूँज-अनुगूँज प्रत्येक भाषा और प्रत्येक प्रांत में, अनेक स्वरों और अनेक रूपों में एक साथ सुनाई पड़ रही थी। जब सारा भारत देश प्रादेशिक और भाषिक सीमाओं को दरकिनार कर, एक स्वर से, देश की राजनीतिक स्वतंत्रता को पाने के लिए जी-जान से जुट गया। मातृभूमि की आज़ादी का यह स्वर सबसे पहले बंगाल की माटी से उठा। बंकिम चन्द्र चटर्जी का गीत -

‘वन्दे मातरम्।

सुजलाम् सुफलाम् मलयज शीतलाम्
शस्य श्यामलाम् मातरम्’

बंगाल प्रदेश की हदें तोड़ पूरे देश के जन-जन की आत्मा में हिल्लोरित हो रहा था। हर भाषा के सैकड़ों कवियों ने इससे प्रेरणा ले राष्ट्रभक्ति के गीत लिखे। उधर काजी नजरूल इस्लाम का क्रांतिकारी उद्घोष, हाथों में अग्निवीणा लिए, सारे देश में उथल-पुथल मचाए था। दूसरी ओर पश्चिम में मराठी के अर्वाचीन चारण विनायक जनार्दन करंदीकर के वीरगीतों में नए रंग के राष्ट्रीय गीतों की परम्परा रूपाकार ले रही थी - “मी निजदेश यशोगानी, वाहिली असे सदा वाणी।” उत्तर में कश्मीरी कवि कश्मीर की प्राकृतिक सुंदरता का राग न गाकर, उस पर आए विपत्ति रूपी पतझड़ के गीत गा रहे थे -

“आज मैं नहीं गाऊँगा कोई गीत - गुल ओ बुलबुल का,
न झरने का, न फूलों के कुंजों का, न शबनम का,
न बहार का। क्योंकि आज पतझड़ की विषैली सांस/
वसंत की हवा को दूर भगा देना चाहती है।”

मतलब यह कि क्या पूरब, क्या पश्चिम, क्या उत्तर, क्या दक्षिण सभी दिशाओं में, उद्दाम राष्ट्रीय चेतना से उद्वेलित हो सम्पूर्ण भारत नवजागरण के ओजस्वी गीत गा रहा था। समूचे, विशाल भारतखंड में अनेक भाषाओं की काव्यधारा विभिन्न दिशाओं से प्रस्फुटित हो, एक ही भावनात्मक दिशा में अग्रसर होती हुई, राष्ट्रीयता के विशाल नद में परिणत हो चुकी थी। ‘सरफरोशी की तमन्ना’ संपूर्ण भारतीय कविता में 20वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही सिर उठाने लगी थी। बिस्मिल का यह गीत क्रांतिकारी भारतीय वीरों के लिए उत्साह का एक नारा बन गया था -

“सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है
देखना है जोर कितना बाजुए कातिल में है।
वक्त आने पर बता देंगे तुझे अय आसमाँ
हम अभी से क्या बताएं, क्या हमारे दिल में है।।”

दरअसल भारतीय साहित्य समग्र भारत की भाषाओं का साहित्य है जिसमें राष्ट्रीय चेतना प्रारम्भ से अद्यतन निरन्तर विद्यमान है। जिस भारतीय साहित्य का निर्माण आधुनिक भारतीय भाषाओं के लगभग एक हजार वर्ष के सम्पूर्ण वाङ्मय में व्याप्त समान तत्त्वों से हुआ है। ये समान तत्त्व प्राचीन भारतीय साहित्य के समृद्ध रिक्थ को संजोए हुए, भारतीय मनीषा को समवेत रूप में प्रतिफलित करते हैं। भारतीय साहित्य में विद्यमान मूलभूत विशेषताओं के आकलन से यह प्रमाणित होता है कि

भारतीय साहित्य में भारतीय चिन्तन और संवेदना की अभिव्यक्ति हुई है जो स्वतंत्रता के बाद और अधिकांश परिपक्व हुई है। राष्ट्रीयता की यही चेतना भारतीय साहित्य की आत्मा है, जो भारतीय संस्कृति से अभिन्न है। इसमें कोई संदेह नहीं कि अनेक भाषाओं में लिखे जाने के बावजूद भारतीय साहित्य एक है और उसकी अवधारणा के अंतर्गत, भारतीय साहित्य में परिव्याप्त राष्ट्रीय चेतना के स्वरूप का आकलन करना संभव है। तमिल कवि 'सुब्रह्मण्य भारती' के शब्दों में कहें तो -

“हमारी भारत माता तीस करोड़ मुख वाली है किंतु उसकी जान तो एक ही है। वह अठारह भाषाएं बोलती है किंतु उसका चिंतन तो एक है।”

भारतीय साहित्य की अवधारणा को हृदयंगम करने के उपरांत यदि 'साहित्य' की वृहद् परिभाषा स्वीकार करें तो मनुष्य की सारी बोधन और भावन चेष्टा 'साहित्य' में समाविष्ट हो जाती है क्योंकि साहित्य मनुष्य के भावों और विचारों की समष्टि है। साहित्य को निरपेक्ष रूप में नहीं देखा जा सकता क्योंकि वह अनिवार्यतः समाज से जुड़ा होता है और इसीलिए उसे प्रभावित करने की सामर्थ्य भी रखता है। अतः भारतीय साहित्य के स्वरूप को समझने के लिए उसके विकास को समग्रता से सामने रखना और आधुनिक युग के प्रारंभ से इसके विकास को पहचानना अति आवश्यक है। 19वीं शताब्दी के मध्य में भारतीय, नवजागरण की चेतना का उदय हुआ जिससे आधुनिक भाषाओं के साहित्य को स्वतंत्र प्रवाह मिला। इस संदर्भ में डॉ. नगेन्द्र द्वारा संपादित 'भारतीय साहित्य का समेकित इतिहास' एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसके द्वारा भारतीय भाषाओं में उपलब्ध समस्त साहित्य को समेकित दृष्टि से देखने का प्रयास किया गया है। प्रो. विनायक कृष्ण गोकाक ने भी 'भारतीय साहित्य की अवधारणा' जैसा ग्रंथ लिखकर आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य पर व्यापक विचार की दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया है जिनकी स्थापनाओं के आधार पर कह सकते हैं कि भारतीय साहित्य का इतिहास, भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त 3000 वर्ष के मानसिक क्रियाकलाप का लिपिबद्ध इतिहास है। विषयवस्तु की दृष्टि से इसमें व्यापक अर्थ में वाङ्मय के समस्त रूपों का अंतर्भाव है। भारतीय सभ्यता की तरह इस साहित्य का विकास सामाजिक रूप में हुआ है जिसमें अनेक युगों, प्रजातियों और धर्मों का प्रभाव परिलक्षित होता है, साथ ही, सांस्कृतिक चेतना और बौद्धिक विकास के विभिन्न स्तर मिलते हैं।

भारत में अनेक भाषाएं हैं। भाषाओं का यह स्वरूप सारे देश में फैला है किंतु आवश्यकता इस बात की है कि सारे भारतीय साहित्य को एक समग्र इकाई मानकर

उसके स्वरूप पर विचार किया जाए। इस संदर्भ में 'भारतीय वाङ्मय' की भूमिका से उद्धृत डॉ. नगेन्द्र का कथन विशेष रूपेण ध्यातव्य है: "भारतवर्ष अनेक भाषाओं वाला विशाल देश है: उत्तर पश्चिम में पंजाबी, हिंदी और उर्दू, पूर्व में उड़िया, बंगला और असमिया, मध्य पश्चिम में मराठी व गुजराती और दक्षिण में तमिल, तेलुगू, कन्नड़ और मलयालम। इनके अतिरिक्त अन्य भाषाएं भी हैं जिनका साहित्यिक और भाषा वैज्ञानिक महत्त्व कम नहीं है: जैसे कश्मीरी, सिंधी, डोगरी, कोंकणी और तूरु आदि। इनमें से प्रत्येक का - विशेषकर पहली बारह भाषाओं में से प्रत्येक का अपना साहित्य है जो प्राचीनता, वैविध्य, गुण और परिमाण - सभी की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध है। यदि आधुनिक भारतीय भाषाओं के ही संपूर्ण वाङ्मय का संकलन किया जाए, तो तेरा अनुमान है कि वह यूरोप के वाङ्मय से किसी भी दृष्टि से कम नहीं होगा। वैदिक संस्कृत, पालि, प्राकृत तथा अपभ्रंश समूह के वाङ्मय का समावेश कर लेने पर तो उसका अनंत विस्तार कल्पना की सीमा को पार कर जाता है: ज्ञान का अपार भंडार - हिंद महासागर से भी गहरा, भारत के भौगोलिक विस्तार से भी अधिक व्यापक, हिमालय के शिखरों से भी ऊँचा।"

यह अनन्त विस्तार ही भारतीय साहित्य की अखंड कल्पना के रास्ते में सबसे बड़ी बाधा है जिसके परिणामस्वरूप कुछ इतिहासकार भ्रमित हो, भारतीय साहित्य के स्वतंत्र अस्तित्व को ही विवादास्पद मान बैठते हैं, किंतु कुल मिलाकर सभी प्रकार की कठिनाइयों के बावजूद भारतीय साहित्य के पक्षधर ही बहुमत में हैं। श्री अरविन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्या ने भावना और धारणा के स्तर पर भारतीय मनीषा की अभिव्यक्ति के रूप में समेकित भारतीय साहित्य की प्रकल्पना का समर्थन किया है। वस्तुतः भारतीय साहित्य की धारणा का सीधा संबंध भारतीय संस्कृति और भारतीय राष्ट्र की धारणा के साथ जुड़ा हुआ है। जिस प्रकार सहस्राब्दियों से धर्म, जाति, भाषा आदि के वैविध्य के रहते हुए भी भारतीय संस्कृति में मूलभूत एकता रही है और भारतीय राष्ट्र आज, जीवंत सत्य के रूप में विद्यमान है, इसी प्रकार भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता का निषेध भी नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, भारतीय मनीषा की अभिव्यक्ति का नाम भारतीय साहित्य है, और भारतीय मनीषा का अर्थ है भारत के प्रबुद्ध मानस की सामूहिक चेतना -कलेक्टिव कांशसनेस - सहस्राब्दियों से संचित अनुभूतियों और विचारों के नवनीत से जिसका निर्माण हुआ है। यह भारतीय मनीषा ही भारतीय संस्कृति, भारत की राष्ट्रीय यता और भारतीय साहित्य का प्राण तत्त्व है।

सामान्यतः भारतीय मनीषा के मूल तत्त्व हैं - 1. आस्तिक बुद्धि, 2. जीवन के प्रति आस्था, 3. अद्वैत, 4. धार्मिक मानववाद यानी मानव गरिमा की स्वीकृति और 5. समभाव एवं सहिष्णुता। भारत की भावप्रतिमा का निर्माण इन्हीं तत्त्वों से हुआ है और इस जीवन दर्शन की रसात्मक अभिव्यक्ति ही भारतीय साहित्य है। भारतीय परिवेश में तथा यथासंभव भारतीय उपकरणों के द्वारा, भारत की इसी भावप्रतिमा को अंकित करने वाला साहित्य भारतीय साहित्य है। भारतीय साहित्य की यह अखंड धारा कम से कम तीन हजार वर्षों से अर्थात् ऋग्वेद की ऋचाओं से प्रारम्भ होकर अधुनातन साहित्य तक प्रवाहित है। वैदिक देवकाव्य, महाकाव्य, पुराण, पालि नीति कथा संग्रह, अभिजात संस्कृत काव्य, प्राकृत-अपभ्रंश के धार्मिक-ऐहिक काव्य और मध्य युग में आविर्भूत आधुनिक भारतीय भाषाओं में विद्यमान यह सातत्य 'भारतीय साहित्य' की एकता और उसकी समेकित सत्ता का प्रमाण है।

अतः 'भारतीय साहित्य' से हमारा अभिप्राय साहित्य की उस परंपरा से है जिसका निर्माण आधुनिक भारतीय भाषाओं के लगभग 1000 वर्ष के संपूर्ण वाङ्मय में व्याप्त समान तत्त्वों से हुआ है। इस भारतीय साहित्य का प्राचुर्य और वैविध्य तो अपूर्व है ही, उसकी यह मौलिक एकता और भी रमणीय है। इस एकता के आधार तत्त्व भी कुछ कम रोचक नहीं।

1. दक्षिण में तमिल और उत्तर में उर्दू को छोड़कर भारत की लगभग सभी भारतीय भाषाओं का जन्म काल प्रायः समान ही हैं।
2. जन्मकाल के अतिरिक्त आधुनिक भारतीय साहित्यों के विकास के चरण भी प्रायः समान ही हैं। प्रायः सभी समकालीन चार चरणों में विभक्त हैं।

इस सामान्य विकास क्रम का आधार है भारत के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन का समान विकास क्रम। भारत के विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों की राजनीतिक परिस्थितियों और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में पर्याप्त साम्य रहा है।

साहित्यिक पृष्ठधार की चर्चा करें तो भारत की भाषाओं का परिवार यद्यपि एक नहीं है, तथापि उनका साहित्यिक रिक्त समान ही है। जिसका प्रभाव निश्चय ही अत्यंत समन्वयकारी रहा है और इनसे प्रेरित साहित्य में एक प्रकार की मूलभूत समानता स्वतः ही आ गई है। इस प्रकार समान राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक आधारभूमि पर पल्लवित-पुष्पित भारतीय साहित्य में जन्मजात समानता एक सहज घटना है। भारतीय साहित्य में जन्मजात समानता एक सहज घटना है।

भारतीय साहित्य की समेकित एकता की चर्चा करते हुए यदि आधुनिक युग के साहित्यिक विकास पर दृष्टिपात किया जाए तो स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि आधुनिक साहित्य विकास की रेखाएं सभी भारतीय भाषाओं में और भी अधिक समान रही हैं। लगभग सभी भाषाओं में आधुनिक युग का सूत्रपात सन् 1857 के स्वातंत्र्य संग्राम के आसपास ही हुआ है। विगत शताब्दी में, स्वतंत्रता से पूर्व सन् 1947 तक आधुनिक साहित्य के सामान्यतः चार चरण हैं - 1. पुनर्जागरण, 2. राष्ट्रीय सांस्कृतिक भावना का उत्कर्ष, 3. रोमान सौंदर्य दृष्टि का उन्मेष और 4. साम्यवादी सामाजिक चेतना का उदय। कुछ समय के अंतर से भारत की सभी भाषाओं में उपर्युक्त प्रवृत्तियों का अनुसंधान किया जा सकता है।

भारतीय साहित्य की नवीनतम घटना है स्वतंत्रता की प्राप्ति जिसने सभी भाषाओं के साहित्य को प्रभावित किया है। भारत ने सत्य और अहिंसा के द्वारा प्राप्त अपनी स्वतंत्रता को विश्वमुक्ति के रूप में ग्रहण किया है। हमारे लिए वह भौतिक विजय का प्रतीक न होकर आध्यात्मिक मुक्ति का पर्याय है। भारत की प्रायः सभी भाषाओं में इस अवसर पर मंगलगान लिखे गए जो सात्विक उल्लास और लोक कल्याण की भावना से ओतप्रोत हैं। स्वाधीन भारत में भारतीय भाषाओं का महत्त्व बढ़ा है और देश की बढ़ती हुई शैक्षिक एवं प्रशासनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त इन सभी के विकास के संगठित प्रयास हो रहे हैं।

उपर्युक्त पर्यालोचन के उपरांत स्पष्ट है कि भारत के आधुनिक साहित्य का विकासक्रम कितना समान है। विदेशी धर्म प्रचारकों और शासकों के प्रयत्नों के फलस्वरूप पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के साथ संपर्क एवं संघर्ष और उससे पुनर्जागरण युग का उदय, राष्ट्रीय आंदोलन की प्रेरणा से साहित्य में राष्ट्रीय, सांस्कृतिक चेतना का उत्कर्ष, साहित्य में नीतिवाद एवं सुधारवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया और नई रोमानी सौंदर्य दृष्टि का उन्मेष, चौथे दशक में साम्यवादी विचारधारा के प्रचार से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रभाव, इलियट आदि के प्रभाव से नए जीवन की बौद्धिक कुंठाओं और स्वप्नों को शब्द रूप देने के नए प्रयोग और अंत में स्वतंत्रता के बाद विश्वकल्याण की भावना से प्रेरित राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का विस्तार - संक्षेप में यही, आधुनिक भारतीय वाङ्मय के विकास की रूपरेखा है, जो सभी भारतीय भाषाओं में समान रूप से लक्षित होती है।

भारतीय वाङ्मय में इन चिर-परिचित धाराओं के अतिरिक्त कुछ स्फुट प्रवृत्तियां भी ऐसी हैं जिनमें एक प्रकार का सुखद साम्य मिलता है: जैसे - रामायण और

महाभारत पर आधारित काव्यों की अजस्त परंपराएं प्रायः संपूर्ण देश में मिलती हैं। इसी प्रकार भागवत् के रूपांतर भी प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में होते रहे हैं। इनके अतिरिक्त संस्कृत काव्यशास्त्र का सार्वभौम प्रभाव भी भारतीय वाङ्मय की एकता का स्थायी आधार है।

भारतीय वाङ्मय की विषयवस्तुगत अथवा रागात्मक एकता के साथ काव्यशैलियों और काव्यरूपों की समानता भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। मूलतः भारतीय भाषाएं दो भिन्न परिवारों - आर्य और द्रविड़ परिवारों की भाषाएं हैं, फिर भी प्राचीन काल में संस्कृत, पालि, प्राकृतों और अपभ्रंशों के और आधुनिक युग में अंग्रेजी के प्रभाव के कारण रूपों और शब्दों की अनेक प्रकार की समानताएं सहज ही लक्षित हो जाती हैं। इस प्रकार यह विश्वास करना कठिन नहीं है कि भारतीय वाङ्मय अनेक भाषाओं में अभिव्यक्ति एक ही विचार है।

भारत की राष्ट्रीय एकता के लिए सांस्कृतिक एकता का आधार अनिवार्य है और सांस्कृतिक एकता का आधार है साहित्य। जिस प्रकार अनेक निराशावादियों की आशंकाओं को विफल करता हुआ भारतीय राष्ट्र निरंतर अपनी अखंडता में उभरता आ रहा है, इसी प्रकार एक संगठित इकाई के रूप में 'भारतीय साहित्य' का विकास भी धीरे-धीरे हो रहा है। यदि मूलवर्ती चेतना एक है तो माध्यम का भेद होते हुए भी साहित्य का व्यक्त रूप भी भिन्न नहीं हो सकता।

राष्ट्र की परिभाषा देते हुए डॉ. सुधीन्द्र ने लिखा है: 'भूमि, भूमिवासीजन और जनसंस्कृति तीनों के सम्मिलन से राष्ट्र का स्वरूप बनता है अर्थात् राष्ट्र उस जन-समुदाय का नाम है, जिसका अपना एक भू-भाग हो, अपनी परंपरागत संस्कृति हो, अपनी भाषा हो, अपना रहन-सहन हो, अपने आचार-विचार हों, अपनी वेशभूषा हो, अपने रीति-रिवाज हों, विदेशी आक्रांताओं से सामूहिक रूप से स्वरक्षा की अनुभूति हो, अपनी भूमि के प्रति समर्पण की अगाध एवं अटूट भावना, असीम प्यार और अपरिमित श्रद्धा हो।

राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक भावना है जो एक ही भू-भाग में बसनेवाली जातियों में पैदा होती है। राष्ट्रीयता का संबंध बाह्य न होकर आंतरिक अनुभूति से होता है। जिस राष्ट्र के लोगों में राष्ट्रीयता की यह चेतना जितनी अधिक तीव्र एवं बलवती होती है, वह राष्ट्र उतना ही शक्ति सम्पन्न तथा समृद्ध माना जाता है। राष्ट्रीयता के आधार भिन्न हो सकते हैं - जैसे भाषा, धर्म, प्राकृतिक स्थितियां, संस्कृति, जाति,

स्वदेश, साहित्यिक परंपराएं आदि। किंतु किसी एक को ही राष्ट्र का अंग नहीं माना जा सकता। बाह्य परिस्थितियों के फलस्वरूप कभी कोई एक तत्त्व अधिक प्रधान हो जाता है तो कभी कोई दूसरा अधिक प्रभावशाली हो जाता है। यही कारण है कि राष्ट्रीयता का स्वरूप सदा एक-सा नहीं रहता, वह सदैव परिवर्तित होता रहता है।

जब हम भारतीय साहित्य और राष्ट्रीय चेतना की बात करते हैं तो यह जानना आवश्यक हो जाता है कि साहित्य में राष्ट्रीय चेतना से हमारा तात्पर्य क्या है? इस संदर्भ में डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना का प्रस्तुत कथन ध्यातव्य है: साहित्य में राष्ट्रीय चेतना से हमारा तात्पर्य उस साहित्य से है जिसमें किसी राष्ट्र की महिमा का गुणगान किया जाता है, उसके अतीत गौरव के चित्र अंकित किए जाते हैं। जिसमें समूचे राष्ट्र की स्वाधीनता और स्वतंत्रता के लिए आत्मोत्सर्ग करने हेतु प्रेरित किया जाता है, जिसमें राष्ट्रप्रेम के साथ-साथ संपूर्ण राष्ट्र की एकता एवं अखंडता को स्थिर रखने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है, जिसमें अपनी मातृभूमि एवं मातृभाषा के प्रति अटूट श्रद्धा एवं विश्वास प्रकट किया जाता है, जिसमें राष्ट्र विरोधी शक्तियों एवं शत्रुओं के प्रति तीव्र घृणा एवं क्षोभ जागृत करने की शक्ति होती है और जो राष्ट्र की सामूहिक उन्नति, सामूहिक प्रगति एवं सामूहिक समृद्धि हेतु सर्वसाधारण के हृदय में तीव्र ज्वाला प्रज्वलित करने में समर्थ होता है।”

भारतीय साहित्य में राष्ट्रीय चेतना अनादिकाल से प्रवाहित होती हुई एक विशेष धारा है, जिसमें संस्कृति, भाषा और राजनीतिक विचारधारा सभी कुछ समवेत रूप में समाहित है। भारत में राष्ट्रीयता का स्रोत वैदिक साहित्य से लेकर अद्यतन निर्बाध गति से निरन्तर प्रवाहित होता आ रहा है। इसकी गति भले ही कभी तीव्र तो कभी मंद दिखाई देती हो किंतु इसका मूल स्वरूप कभी धूमिल नहीं होने पाया है। वैदिक आर्यों की राष्ट्रीय चेतना अत्यंत विकसित तथा पुष्ट थी और उसमें संपूर्ण विश्व को एक कुटुम्ब मानने पर बल दिया गया था। ऋग्वेद के ‘पृथ्वीसूक्त’ का प्रत्येक मंत्र देशभक्ति से ओतप्रोत है, जिसे आर्यों का राष्ट्रगान कहा जा सकता है।

धर्म और संस्कृति भारतीय राष्ट्रीयता के मूल आधार रहे हैं। प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में भारत की अखंड भौगोलिक एकता, धार्मिक एकसूत्रता और सांस्कृतिक गरिमा के दर्शन सदैव राष्ट्रीयता के रूप में होते रहे हैं। भारत राष्ट्र की एकसूत्रता की ओर संकेत करते हुए ‘संस्कृति के चार अध्याय’ में दिनकर लिखते हैं: “उत्तर को आर्यों का देश और दक्षिण को द्राविड़ों का देश समझने का भाव यहां कभी नहीं पनपा क्योंकि आर्य और द्राविड़ नाम से दो जातियों का विभेद यहां हुआ ही नहीं था।

समुद्र से उत्तर और हिमालय से दक्षिण वाला विभाग यहां हमेशा से एक देश माना जाता रहा है।” ‘जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी’ की उद्घोषणा करने वाले भारतीयों की राष्ट्रीयता उनके वैचारिक औदात्य और भूमि के प्रति प्रगाढ़ आस्था की परिचायक है।

वस्तुतः बोली, भाषा, धर्म, आचार-विचार और रहन-सहन की विभिन्नताओं के होते हुए भी यहां के निवासियों में भावनात्मक एकता है। इसे हम ‘अनेकता में एकता’ (Unity among diversity) का संदेश देने वाला राष्ट्र कह सकते हैं; जिसमें समष्टिगत भाव की अंतश्चेतना संगठित जन समुदाय की वह चेतन सत्ता है जो सारे राष्ट्र को समष्टि रूप से अभ्युदय की प्रेरणा प्रदान करता है।

भारत में आधुनिक राष्ट्रीय चेतना का बीज 1857 के जन विप्लव के रूप में अंकुरित हुआ। इससे पहले आरंभिक और मध्यकालीन रचनाओं में वीररस का चित्रण तो पर्याप्त मात्रा में हुआ है किंतु उसमें राष्ट्रीयता का व्यापक भाव उपलब्ध नहीं होता। भारतीय साहित्य में चारण या वीरकाव्य भी सभी भारतीय भाषाओं में मिल जाता है। इस युग के कवि राज्याश्रय में रहते थे। यही कारण है कि इसे चारणयुग कहा गया और इसमें राजाओं की वीरता की गाथाएं रची गई हैं। सिंधी और पंजाबी में भी वीररस की रचनाएं रची गईं जिनमें युद्ध का वर्णन है। असम में लव-कुश जैसी रचना लिखी गई। बंगला में भी चर्यागीत मिलते हैं। दक्षिण भारत की भाषाओं में भी इसी प्रकार राजा के आश्रयदाता होकर कैदियों ने प्रशस्ति गान किया है। तमिल का तेलकाधियम इसका उदाहरण है। तमिल के समानान्तर कन्नड़ में भी इस प्रकार का काव्य लिखा गया। मलयालम का प्रथम काव्य रामचरितम् है जिसमें वीर काव्य की गीत शैली है और यह रचना योद्धाओं को लक्ष्य करके लिखी गई है।

इस काल के ग्रंथों में वीरोत्तेजक भावनाएं, स्वामी-भक्ति, भूमि प्रेम, राजपूती गौरव और आन के लिए मर-मिटने की भावना तो परिव्याप्त है परंतु व्यापक राष्ट्रीयता की कमी है। इस काल की वीरभावना या देश प्रेम व्यक्तिगत तथा एकदेशीय है। व्यापक देश प्रेम और राष्ट्रीय हित की भावना का उनमें अभाव था।

रीतिकाल में भी कुछ ऐसे कवि हुए जिन्होंने अपने काव्य में ऐसे हिंदू राष्ट्रप्रेमी और लोककल्याणकारी भावना से पूरित नामकों को आदर्श रूप में रखा, जिन्होंने देश प्रेम की भावना से आप्लावित होकर देश की स्वतंत्रता को बनाए रखने तथा सामूहिक रूप से एकता स्थापित कर राष्ट्र को समृद्ध और शक्तिशाली बनाने का प्रयास

किया। शिवाजी, छत्रसाल, हम्मीर, राणाप्रताप आदि वीरों की जीवन-गाथाएं लिखकर महाकवि भूषण, लाल, सूदन, गंग, चन्द्रशेखर, जोधराज आदि कवियों ने इस युग में भी राष्ट्रीय भावना को जाग्रत रखने का अथक प्रयास किया। दक्षिण भारत की भाषाओं में भी यह दरबारी काव्य मिलता है, पर अपनी-अपनी परिस्थितियों के अनुसार, इसमें भिन्नता है। जैसे मराठी और असमी के समान बंगला में भी यह परंपरा नहीं है। गुजराती और पंजाबी में भी प्रशस्ति काव्य जैसी किसी विधा का विकास नहीं हुआ किंतु तेलुगू में यह परंपरा मिलती है। चोल नरेश की कलिंग विजय के उपलक्ष्य में तमिल में भी प्रशस्ति काव्य मिलता है। कन्नड़ में भी कवियों ने राजाओं का प्रशस्ति-गान किया है। किंतु यह भावना भी कुल मिलाकर इतनी विरल थी कि रीतियुगीन शृंगार की सहस्रधारा में तुरंत ही विलीन हो गई और पूरे दो सौ वर्षों तक फिर उसका कोई चिह्न नहीं मिला।

आधुनिक राष्ट्रीयता का प्रथम उत्थान हमें सन् 1857 के विद्रोह में मिलता है। अंग्रेज शासकों के विरुद्ध, हिन्दुस्तान की संगठित राष्ट्र भावना का वह प्रथम आह्वान था और तभी से हमारी राष्ट्रीयता का जयनाद आरंभ हो गया। अब पहली बार प्रदेश अथवा धर्म संप्रदाय के संकुचित वृत्त से निकलकर राष्ट्रीयता ने समग्र देश को अंतर्भूत कर लिया। भारतीय साहित्य में यह युग राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता के नाम से प्रसिद्ध है। इस युग के लिए आधुनिक शब्द का प्रयोग किया गया है क्योंकि यह मध्ययुगीन मानसिकता से अलग है और इसमें नई सामाजिक चेतना का विकास हुआ है। भारतीय साहित्य में राष्ट्रीयता का उदात्त, व्यापक एवं शोभन रूप यदि कहीं दिखाई देता है, तो वह आधुनिक काल में ही है। राजनीतिक दृष्टि से यह पुनर्जागरण काल है। इस काल में जिस राजनीतिक भावना का उद्भव हुआ, उसका भारतीय राष्ट्रीयता के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अंग्रेजी साहित्य के सम्पर्क से भारतीयों का बौद्धिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण परिवर्तित होने लगा। युगपरिवर्तन के साथ ही साथ साहित्यकारों की चिंतन धारा भी बदल गई। देश में पुनरुत्थान का एक आंदोलन ही शुरू हो गया था। राजाराम मोहन राय, स्वामी दयानंद सरस्वती, श्रीरामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानंद, प्रभृति लोकनायकों के नेतृत्व में सामाजिक और सांस्कृतिक परतंत्रता के विरुद्ध जनमत तैयार होने लगा। भारत भूमि के प्रति इन लोगों का प्रेम अगाध था और भारत से उनका तात्पर्य कश्मीर से कन्याकुमारी और सीमा प्रदेश से लेकर आसाम तक विस्तृत समग्र देश से था। भारतीय संस्कृति का अर्थ भी उनकी दृष्टि से अभिप्रा

आर्य संस्कृति से ही था किंतु उसमें देश क एकता और अखंडता अंतर्भूत थी। पराधीनता की बेड़ियों से मुक्ति पाने के लिए जनशक्ति का प्रथम संगठित प्रयास 1859 ई. के स्वाधीनता संग्राम में दिखाई देता है। इस स्वाधीनता संग्राम की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि यह किसी एक प्रदेश में न लड़ा जाकर पूरे देश में लड़ा गया। साथ ही इससे प्रादेशिकता, जाति-पाति का भेदभाव खत्म हुआ और एक ऐसी एकता का जन्म हुआ जिसका साथ हिंदू, मुसलमान, उत्तर और दक्षिण भारत दोनों ने कंधे से कंधा मिलाकर दिया। यह स्वाधीनता संग्राम भारतीय जनता का जातीय संग्राम था, जिसमें देश को लूटने, उजाड़ने वाली उपनिवेशवादी शक्तियों से सीधी टक्कर थी। टक्कर के पीछे का जन-उत्साह इतना प्रबल था कि सभी भारतीय भाषाओं में इस युद्ध को लेकर अपार लोकसाहित्य रचा गया है। सन् 57 का सबसे लोकप्रिय गीत हाथरस और मुरसान के देशभक्त राजा महेन्द्रप्रताप की वीरता के संबंध में मिलता है। उस समय की लूट का एक चित्र इस लोकगीत में देखिए -

फिरंगी लुटि गयौ रे!

हाथरस के बाज़ार में, गोरा लुटि गयौ रे!

टोप लुटि गयौ, घोड़ा लुटि गयौ, तमंचा लुटि गयौ

जाको चलते बाज़ार में।

लोककंठ से प्रस्फुटित यह लोक साहित्य, लोक हृदय, लोक चेतना, लोक संवेदना का परिचायक साहित्य है जिसमें भारतीय हृदय की सांस्कृतिक अस्मिता का सच्चा उच्चार है। अपने परिमार्जित और कलात्मक रूप में यह अभिव्यक्ति केशवसुत, सुब्रह्मण्य भारती, माइकेल मधुसूदन दत्त, भारतेंदु हरिश्चंद्र आदि में दृष्टिगत होती है। इस युग की राष्ट्रीय कविता का प्रस्फुटन कई रूपों में हुआ। सबसे पहले उसकी अभिव्यंजना अतीत के गौरवगान के रूप में हुई। कवियों ने वर्तमान को भी उपेक्षित नहीं रखा, बल्कि वर्तमान की अधोगति की तरफ संकेत करके उन्होंने प्रतिक्रिया के रूप में अपनी क्षोभयुक्त वेदना भी प्रकट की है। भारत भूमि की अभ्यर्थना द्वारा भी इन कवियों ने राष्ट्रीयता की अभिव्यंजना की।

श्रीधर पाठक के 'भारतस्तव' में देश प्रेम का यह अनूठा निरूपण देखिए:

वदे भारत - देशमुदारम्

सुखमा-सदन - सकल - सुख सारम्

भाल विशाल हिमाचल भ्राजम्, चरन विरजित अर्णवराजम्।

19वीं शताब्दी में सबसे पहले पुनर्जागरण बंगाल में आया। वहां इसे वीरयुग कहा गया क्योंकि यह सच्ची राष्ट्रीय चेतना की जागृति का समय था। राष्ट्रीय चेतना में विदेशी प्रभुत्व के विरुद्ध विद्रोह भावना और स्वतंत्रता के स्वप्न सन्निहित थे और स्वतंत्रता के सपने राष्ट्र को वीरतापूर्ण विचारों के स्पन्दन से भर रहे थे। लोक हृदय में उस समय शौर्य की दीप्ति थी अतः वीर युग नाम इसके लिए उचित ही है। अन्य प्रदेशों में पुनर्जागरण की यह लहर काफी बाद में उठी। इसलिए बंगाल के पुनर्जागरण ने भारतीय पुनर्जागरण को काफी दूर तक प्रभावित किया। सन् 1857 के स्वाधीनता संग्राम के बाद भारतीय सृजनात्मकता में सबसे बड़ा मोड़ यह आया कि साहित्य की सभी विधाओं में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारत की संगठित राष्ट्रभावना का स्वर मुखर हो गया। प्रारंभ में तो राजभक्ति के साथ देशभक्ति का समझौता दिखाई दिया किंतु शीघ्र ही राजभक्ति की भावना समाप्त हो गई। 'भारत दुर्दशा' नामक नाटक में भारतेन्दु ने कुछ-कुछ विद्रोह का स्वर बोलना शुरू किया-

रोवहु सब मिलिकै आवहु भारत भाई

हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।।

हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बंगाल में माइकेल मधुसूदन दत्त, रवीन्द्रनाथ टैगोर, नवीनचंद्र घोष, उर्दू में हाली, इकबाल, सिंधी में कासिम, फाजिल, मराठी में केशवसुत, करंदीकर, कन्नड़ में गुंडप्पा, बेंदरे, आनंदकंद, मलयालयम में वल्लतोल, तेलुगू में वीरेशलिंगम्, सुब्बाराव, तमिल में सुब्रह्मण्य भारती, कवि नायकम् पिल्लै, कश्मीरी में गुलाम अहमद मजहूर, पंजाबी के भाई वीरसिंह, गुजराती के नर्मदाशंकर, उमाशंकर जोशी, असमिया में लक्ष्मीकांत बेजबरुआ, उड़िया के मधुसूदन राव, फकीर मोहन आदि आधुनिक भारतीय राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता के रचनाकारों ने सृजन कर्म को नवजागरण के आलोक से दीपित कर दिया।

इस काव्यधारा को गहराई से समझने पर स्पष्ट होने लगता है कि साम्राज्यवादी अंग्रेज लुटेरों ने प्राचीन भारतीय अर्थव्यवस्था, परंपरागत सामाजिक मूल्यों और सामन्ती व्यवस्था को किस प्रकार अपनी धूर्ततापूर्ण नीतियों द्वारा ध्वस्त कर दिया था फलतः विरोध स्वरूप इस काल के सभी कैदियों ने जागरुकता के साथ अपनी-अपनी प्रादेशिक भाषाओं में स्वाभिमान और स्वदेशाभिमान की भावना को व्यक्त किया। हिंदी भाषी क्षेत्रों में इसी भावना और चेतना के प्रतिनिधि भारतेन्दु, प्रेमधन, राध कृष्णदास जैसे कवि थे जो 'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल' और 'अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी / पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख्वारी'

का जयनाद करते रहे। बंगाली बुद्धिजीवियों में देशभक्ति को लेकर कल्पनामिश्रित आवेग अधिक था किंतु महाराष्ट्र में भारत के सांस्कृतिक स्रोतों से उद्भूत गहराई अधिक थी। ईश्वरचंद्र और केशवसुत के काव्य के तुलनात्मक अध्ययन से यह अंतर स्पष्ट परिलक्षित किया जा सकता है। महाराष्ट्र की राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता में क्षात्र धर्म की पुकार का क्रांतिकारी स्वर गुजराती, मलयालम, कन्नड़ आदि की तुलना में बड़ा प्रबल है जबकि तदुद्युगीन गुजराती कविता पर संतों की उदात्त शांत भावना का वर्चस्व है।

महर्षि दयानंद, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, ऐनी बेसेंट और महर्षि अरविन्द के गंभीर चिंतन के परिणामस्वरूप सभी प्रदेशों से यह आवाज उठने लगी कि दासता भारतीयों के आत्मसम्मान के लिए अत्यंत घातक है। प्रत्येक कवि और चिंतक में गुलामी को लेकर विक्षोभ और ग्लानि का भाव था। इस युग के सभी कवि देश की मुक्ति हेतु जमीन तैयार कर रहे थे -

सब तजि गहौ स्वतंत्रता नहिं चुप लातै खाव।

राजा करै सो न्याय है, पासा परै सो दांव।।

सच्चे अर्थों में समग्र भारतीय संस्कृति अपने अस्तित्व का रूपान्तरण कर रही थी। यह तथ्य इस युग के सभी कवियों की कविताओं में प्रत्यक्ष झलकता है। इन सभी कवियों की देशभक्ति के अंतर्गत - प्राचीन गौरव, विदेशी सभ्यता, संस्कृति एवं उनकी लूट भावना के प्रति वेदनाजन्य घृणा, वर्तमान भारत की पतन गाथा पर चिंता, प्राण देकर स्वतंत्रता की प्राप्ति आदि के भाव मिलते हैं। आधुनिक भारत के प्रथम और द्वितीय उत्थान का यह चित्र अत्यंत भव्य एवं उदात्त है।

भारतीय राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता के क्रांति युग पर तिलक के गीता रहस्य और क्रांतिकारी चिंतन का गहरा प्रभाव पड़ा और देश भर में स्वदेशाभिमान, स्वराज्य और विदेशी शासन के बहिष्कार संबंधी क्रांतिकारी कविताओं की बाढ़ आ गई। विकासवाद के सिद्धांत और उससे उद्भूत मानव की श्रेष्ठता के बोध ने राष्ट्रीय सांस्कृतिक स्तर पर एक बड़ी क्रांति को जन्म दिया। अब भारत का चिंतन ईश्वर या देवता से हटकर 'मानव केंद्रित' हो गया और चिंतन के केंद्र में मानव के आ जाने से प्राचीन धार्मिक नैतिकता के मूल्य गड़बड़ाने लगे। सारे प्रतिमान मानव की भक्ति भावना और उसकी अनंत संभावनाओं को परिभाषित कर उठे। लौकिकता के उदय ने समाज में जो नया मंथन पैदा किया उसकी अभिव्यक्ति हिंदी में

माखनलाल, मैथिलीशरण गुप्त, उर्दू में इकबाल, नज़ीर अकबराबादी, मराठी में विनायक जनार्दन करंदीकर आदि की कविताओं में हुई। नई चेतना का जो बीज भारतेन्दु और हाली में अंकुरित हुआ था उसका विकास इसी काल में हुआ। मौलाना मुहम्मद हुसैन आज़ाद ने गदर के बाद की निराशा को हटाकर देशभक्ति, अतीत के गौरव गान और सुधार आंदोलनों का स्वर अपनाते हुए लिखा:

हिम्मत के शहसवार जो घोड़े उठाएंगे।
दुश्मन फलक भी होंगे तो सर को झुकाएंगे॥
तूफान बुलबुलों की तरह बैठ जाएंगे।
नेकी के दौर उठके बदी को दबाएंगे॥

हिन्दी में मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, सुभद्राकुमारी चौहान, रामधारी सिंह दिनकर आदि कवियों की एक पूरी पीढ़ी राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता में, देशप्रेम, बलिदान, करुणा और आस्था के गान गाती रही। मराठी ने 'तुतारी', 'नेवा सिपाही', 'निशान' जैसे क्रांतिगीतों के द्वारा देश भर में जन-जन को जगाना चाहा। सामाजिक क्रांति की इन कविताओं का स्वर मूलतः लोकमंगलवादी था। इसी दौर में सिंधी की राष्ट्रीय कविता सूफीवाद और वेदान्त से निकलकर नया रूप धारण करती है। हूंदराज दुखायल के 'आज़ादी के गीत' सिंधी जाति की राष्ट्रीय सांस्कृतिक अस्मिता को उजागर करते हैं। पंजाबी के गुरुमुखसिंह 'मुसाफिर' की कविताओं से हूंदराज की कविताओं का भाव साम्य देखते ही बनता है। इन कविताओं में सांप्रदायिक गंध एकदम नहीं है। कश्मीरी में गुलाम अहमद ने 'गुल' और 'बुलबुल' के प्रतीकों से राष्ट्रीय भावनाओं को उद्बुद्ध किया।

इस राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्यधारा की सर्वाधिक प्रबल प्रवृत्तियाँ हैं - (1) सांस्कृतिक बोध का जागरणवादी स्वर तथा भारतीय अस्मिता के प्रति नया दृष्टिकोण जो सभी भाषाओं में समान रूप में मिलता है। अपने अतीत से वर्तमान को प्रेरणा देने की शक्ति इन सभी रचनाओं में उदात्त काव्यात्मकता के साथ विद्यमान है। (2) पराधीनता और दमन के प्रति विद्रोही स्वर भी आधुनिक भारतीय राष्ट्रीय कविता की सर्वमान्य विशेषता है। माखनलाल चतुर्वेदी जन-जन के हृदय में व्याप्त प्रचंड ज्वाला को कितनी तड़प के साथ अभिव्यक्त करते हैं:

बलि होने की परवाह नहीं, मैं हूँ कष्टों का राज्य रहे।
मैं जीता, जीता, जीता हूँ, माता के हाथ स्वराज्य रहे॥

देश का आहत स्वाभिमान इन कविताओं में साभार हो दहाड़ रहा है। (3) क्रांति का हिंसक-अहिंसक रूपरंग - सन् 1930 के बाद की राष्ट्रीय कविता में साफ-साफ देखा जा सकता है। अनेक भारतीय कवियों का वामपंथी, क्रांतिकारी राजनीति से कई स्तरों पर सर्जनात्मक संबंध हुआ फलतः अब कविता राजनीति प्रधान अधिक हो उठी। आत्मान्वेषण के दौर से निकलकर कविता समाज और देश की ओर बहिर्मुख हो उठी। इन कवियों ने शोषित, पीड़ित जनता के दर्द को खुलकर वाणी दी। तमिल में अकाल के एक दारुण दृश्य को इस प्रकार रखा गया है -

अन्न कहीं नहीं मिलता सुंदर मदुरा में
शून्य मुख हो गए थे पांड्यदेश के नर सब
अन्न चिंता वही एक सताती बड़ी सबको॥

(4) स्वर्णिम भविष्य के प्रति आस्था - इस कविता की एक अन्य उल्लेखनीय प्रवृत्ति है। इस दौर के कवियों ने इतिहास, दर्शन और संस्कृति पर पूरा भरोसा किया और यही भरोसा इस कविता का मेरुदंड है। व्यापक अर्थों में यह कविता मानव को भीतर-बाहर से जगाने की, झकझोरने की, देश के लिए प्राणोत्सर्ग की भावना को प्रवर्धित करने वाली कविता बनी। जयशंकर प्रसाद जैसे हिंदी कवि का स्वर समस्त भारतीय कविता में गुंजरित होने लगा -

हिमादि तुंग शृंग से / प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती

(5) देशभक्ति का रागात्मक ऐश्वर्य, (6) लोक जागरण का शंखनाद और (7) अतीत का गौरव गान इस काव्यधारा की सर्वाधिक समृद्ध, सशक्त और स्तुत्य परंपरा है। जो समस्त भारतीय साहित्य में समान रूपेण विद्यमान है। दरअसल भारतीय संस्कृति एक अखंड भावधारा है जिसमें वैदिक, बौद्ध, जैन सभी विचारधाराओं का जल प्रवाहित है। हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, ब्राह्मण, आर्य, द्रविड़ इन सभी से मिलकर वह पुष्ट हुई है। उसमें कहीं भी मनुष्य को मनुष्य से तोड़ने का भाव नहीं है और यह अखंडता ही हमारी शक्ति है। सभी भारतीय भाषाओं के कवियों ने इस सत्य को अंतरात्मा से स्वीकार कर अपनी कविताओं में अभिव्यक्त किया है इसीलिए भारतीय राष्ट्रीय कविता लिखी चाहे चौदह भाषाओं में गई हो किंतु उसकी आत्मा एक है, अखंड है और सर्वथा अपराजेय है। यह राष्ट्रीयता हमें अखंड देश से अंतर्राष्ट्रीयता और विश्वबंधुत्व की उच्चतम ऊंचाइयों तक ले जाती है।

15 अगस्त 1947 का दिन भारतीय राष्ट्रीय कविता के लिए एक नए सूर्योदय का वह स्वर्णिम दिन था जब देश आज़ादी के जश्न में विमग्न हो गया और चारों ओर आनन्द-राग उषा की लालिमा की तरह छा गया। नव-निर्माण, नव-संस्कार और विजय राग ने पूरी कविता के स्वर को ही आमूल बदल दिया। भारत की पराधीनता से मुक्ति एशिया के नव-जागरण का प्रतीक थी, मानवता की जीत थी और मानव-आकांक्षाओं और स्वप्नों का एक नवीन द्वार उन्मुक्त कर रही थी। लेकिन आज़ादी का यह आनंद पूर्ण स्वर जल्दी ही आर्थिक, सामाजिक और सामाजिक अवमूल्यन की निराशा और अवसाद से ग्रस्त हो हताशा, अनास्था, संत्रास, संशय और आत्मनिर्वासन के निराशापूर्ण स्वरों में बदल गया। राजनीतिक आज़ादी देश के आम आदमी की आज़ादी बनकर नहीं आई कि फलतः भारतीय कविता में पराजय बोध, अपराध बोध और अस्तित्ववादी विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। मोहभंग, अवसाद, अंधेरा, मृत्युबोध और मूल्यहीनता ने स्वातंत्र्योत्तर भारतीय कविता को अपनी गुंजलक में जकड़ लिया।

किंतु सन् 1962 के चीनी आक्रमण ने हताशा में डूबे देश को एक बार फिर झकझोर कर जगा दिया और समग्र भारत पुराने गतिरोध और हताशा को त्याग पुनः उठकर खड़ा हो गया। रामधारी सिंह 'दिनकर' ने इसी अवसर पर 'परशुराम की प्रतीक्षा' जैसी क्रांतिकारी कविता लिखकर हमें जैसे सोचने पर मजबूर कर दिया:

हे वीर बन्धु! दायी है कौन विपद का?
हम दोषी किसको कहें तुम्हारे वध का?
घातक है, जो देवता सदृश दिखता है
लेकिन, कमरे में गलत हुक्म लिखता है।
यह पाप उन्हीं का हमको मार गया है
भारत अपने घर में ही हार गया है।।

यह काव्य भारतीय मानस के गहरे विक्षोभ और आलोलङ्गन का प्रतीक है। नए रचनाकारों ने हिंदी, बंगाली, मराठी, तमिल तथा कन्नड़ में युद्ध के तीव्र स्वरों को अभिव्यक्ति दी, नया मानस-मंथन शुरू हुआ और देश की नैतिक-सामाजिक चेतना में एक ज्वार-सा दृष्टिगत हुआ। इन कविताओं में एक नई ताज़गी है। राष्ट्रीय चेतना अनेक नई दिशाओं की ओर उन्मुख हुई। अमृता प्रीतम की 'चुप की साजिश' कविता में आधुनिकता बोध की कौंध देखिए: 'रात उघलांदाई गई / किसी ने इंसान दी छाती नू, सहयट लाई है / हर चोरी तो मिआनक इह सुपनिआं दी चोरी है।'।

भूख और दारिद्र्य, मानव मात्र की समानता, धरती का यथार्थ और मिट्टी की गंध, आक्रोश और विप्लव के क्रांतिकारी स्वर समस्त भारतीय भाषाओं की तद्युगीन कविता में एक समान सुने जा सकते हैं। इस प्रकार इस राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता ने मानव और देश के सर्वोच्च मूल्यों की महत्त्व प्रतिष्ठा में सृजनात्मकता को सक्रिय रखा है। आज हमारी राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता विचार संपदा में इतनी समृद्ध है कि हम अपनी गौरवपूर्ण थाती पर गर्व कर सकते हैं।

भारतीय नई कविता में अंतर्निहित राष्ट्रीय चेतना वर्तमान युग की अनिवार्यता है। अंतर्राष्ट्रीय और विश्वबंधुत्व की मानव परिकल्पना राष्ट्रीय चेतना की स्वस्थ अनुभूति में अंतर्निहित हैं। नई कविता-प्रयोगवाद की अनुकृति न होकर स्वातंत्र्योत्तर जीवन में व्याप्त विद्रूपताओं, विसंगतियों और विषमताओं की सजीव अभिव्यक्ति है। निराशा, कुंठा, आशा, आस्था की सम्मिलित स्वर लहरियां जीवन की समग्रता से उद्वेलित करती हुई नई कविता के स्पन्दन में अनुगुंजित हैं। नई कविता ने आधुनिकता और आधुनिकता बोध के समस्त परिवेश को तोला परखा और समझा है। राष्ट्रीय चेतना की दृष्टि से यह काव्य स्थायी महत्त्व का दास्तावेज है।

मूल्यांकन : आधुनिक राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता के स्वरूप विवेचन, प्रवृत्तियों के निर्धारण और उपर्युक्त विश्लेषण के उपरांत अब इसके मूल्यांकन का प्रश्न उठता है। इस संदर्भ में सर्वप्रथम ध्यातव्य बात यह है कि अलग-अलग भारतीय भाषाओं में लिखे जाने के बावजूद इस कविता में भारतीय सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और पारंपरिक एकता और एकरूपता के भावबिंब ही अधिक हैं। इससे सिद्ध होता है कि भारतीय मानस एक है और उसमें प्रादेशिकता, सांप्रदायिकता, क्षेत्रीयता की आवाज़ न होकर एक भारत राष्ट्र का अखंड और जीवन्त चित्र मिलता है। इस कविता में गंभीर मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा को स्थान मिला है। यह कविता जितनी संग्रहशील रही उतनी ही विकासशील भी। युगधर्म और स्वधर्म दोनों को एक साथ निभाते हुए इस कविता ने भारतीय अस्मिता को मुक्त वाणी दी है।

इस कविता को व्यापक संदर्भों में लोकजागरण की कविता कह सकते हैं जिसमें व्यक्तिवाद, कलावाद, भाववाद आदि का स्थान मानववाद, मानवतावाद और लोकमंगलकारी जीवन मूल्यों ने ले लिया है। इस कविता का फलक बहुत व्यापक है जिसमें राष्ट्र के सर्वांगीण जीवन का विस्तृत चित्रण हुआ है। इन कवियों ने हमारे सांस्कृतिक जीवन के सभी पक्षों पर विचार किया है और भारत के आधुनिक जन-मानस को नया जीवन स्पंदन और नई जीवन दृष्टि दी है। मध्ययुगीन भावबोध

के विरुद्ध बगावत इस कविता का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू रहा है। कहने का अभिप्राय यह है कि यह काव्य एक महान राष्ट्र के इतिहास, संस्कृति और जातीय अस्मिता की बहुमुखी अभिव्यक्ति है। मानव करुणा और देशभक्ति से इसमें जीवन रस का अमृत निष्पत्ति पा सका है।

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि 'इस कविता ने जीवन के सबसे मूल्यवान मूल्य - स्वाधीनता को रक्षित रखने की दिशा और दृष्टि दी है। जागरण युग की राष्ट्रीय-नैतिक मूल्य चेतना से अनुशासित इस काव्यधारा में लोकजीवन और लोकहृदय की लय और थिरकन का जातीय संगीत मौजूद है। वास्तव में, यह मानव को अंधेरे में रोशनी दिखाती कविता है, जिसमें राष्ट्र के प्राणों की पुकार मानवतावादी चिंतन के साथ फूटती रहती है।

डॉ. मंजू गुप्ता

एसोसिएट प्रोफेसर (सेवानिवृत्त), हिन्दी विभाग

कमला नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

फोन नं. : 011-29552732

सामाजिक न्याय और स्त्री सशक्तीकरण की पृष्ठभूमि में डॉ. बी.आर. अम्बेडकर का योगदान हिन्दी दलित साहित्य के परिप्रेक्ष्य में

सामाजिक न्याय मनुष्य के हित में दिया गया एक प्रगतिशील विचार है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इस दृष्टि से सभी मनुष्यों का यह मानवीय अधिकार बनता है कि वे समाज में सम्मान और बराबरी से रह सकें। एक-दूसरे के साथ प्रेम, समता और सौहार्दपूर्ण व्यवहार करें। मगर हमेशा ऐसा नहीं होता है। एक ताकतवर व्यक्ति कमजोर व्यक्ति के साथ भेदभाव करने लगता है। मनुष्य की इस प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने के लिए और मानवाधिकारों के संरक्षण को ध्यान में रखकर संयुक्त राष्ट्र ने 20 फरवरी 2009 से अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक न्याय दिवस मनाने का निर्णय लिया था। तब से पूरे विश्व में यह दिन मनुष्य की गरिमा, अस्तित्व की रक्षा और मानवाधिकारों के संरक्षण के लिए मनाया जाता है। भारत जैसे देश में इस दिवस और इस मानवीय हित के रक्षार्थ योजना का विशेष महत्त्व है क्योंकि यहां असमानता की विभिन्न परतें हैं। उन्हें मिटाने के लिए इस प्रगतिशील विचार को मानव के हक में और भी जोर-शोर से मनाने की जरूरत है।

इस विचार के अनुसार किसी भी मनुष्य के साथ जाति, धर्म, रंग-रूप, कद, लिंग, अमीरी, गरीबी इत्यादि के आधार पर यहां तक कि छोटे बच्चों के साथ भी भेदभाव नहीं होना चाहिए। मगर कुछ लोगों के साथ किसी न किसी स्तर पर अन्याय हो ही जाता है। गरीब अमीर के शोषण का शिकार होता है तो कभी जाति-धर्म और लिंग भेद के कारण भी एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के साथ मानवीय संबंधों को नकार कर क्रूरता की हदें भी पार कर देता है। इस असमानता के माहौल में न सिर्फ व्यक्तिगत रूप से एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के साथ अन्याय करता है। कभी-कभी समुदायगत भेदभाव भी हो जाता है। सामाजिक न्याय विचार के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को जीवन जीने के न्यूनतम संसाधन जुटाने और विकास करने की संकल्पना में रुकावट नहीं आनी चाहिए।

भारत विभिन्न संस्कृतियों, जातियों और धर्मों का देश है। हमारे देश के इतिहास में राजनैतिक स्तर पर अनेक परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों में यहां की जनता को परिणाम भुगतने पड़े हैं। खास कर दलित, शोषित, वंचित, अल्पसंख्यक और स्त्री वर्ग को समाज की मुख्य धारा से पीछे रह गया था। उसे मनुष्य होने के नाते

जीविका के सम्मानजनक साधनों को प्राप्त करने के लिए संविधान में आरक्षण की व्यवस्था इसलिए की गई ताकि उन्हें सामाजिक न्याय मिल सके। वे सब के साथ मिलकर अपनी प्रतिभा का विकास कर सकें। देश के विकास में अपना योगदान देने लायक बन सकें। इसीलिए भारतीय संविधान में सामाजिक न्याय की व्याख्या की अवधारणा के तहत समता, स्वतंत्रता, अभिव्यक्ति और शिक्षा को मौलिक अधिकारों में सम्मिलित किया गया है। यहां रहने वाले किसी भी नागरिक के साथ किसी भी तरह की असमानता नहीं की जानी चाहिए। 'राइट टू इंफोरमेशन' और 'राइट टू एड्यूकेशन' और स्त्रियों की सुरक्षा से जुड़े कानूनों का लक्ष्य ही समाज में सबको न्याय दिलाना है।

किसी भी लोकतांत्रिक और प्रगतिशील देश की यह नैतिक जिम्मेदारी भी बनती है कि वह अपने नागरिकों को सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप से सामाजिक न्यायिक व्यवस्था स्थापित कर सके। यह विचार सिर्फ भारत तक सीमित नहीं है। यह वैश्विक विचार है। हां, हर देश और उसके समाज में सामाजिक न्याय व्यवस्था का स्वरूप भिन्न हो सकता है। उसके संबंध में बुद्धिजीवियों में मतांतर भी हो सकते हैं। मगर इसके केन्द्र में मनुष्य को सामाजिक रूप से न्याय दिलाना प्रमुख है। इस संबंध में जॉन रॉल्स ने सन् 1971 में अपनी पुस्तक 'ए थियोरी ऑफ जस्टिस' में इस बारे में तर्क दिया था कि आखिर क्यों समाज के कमजोर तबकों की भलाई के लिए राज्य को सक्रिय हस्तक्षेप करना चाहिए। ...अपने न्याय के सिद्धान्त में उन्होंने हर किसी को समान स्वतंत्रता के अधिकार की तरफदारी की। इसके साथ ही भेदमूलक सिद्धान्त के माध्यम से यह स्पष्ट किया कि सामाजिक और आर्थिक अंतरों को इस तरह समायोजित किया जाना चाहिए कि इससे सबसे वंचित तबके को सबसे ज्यादा फायदा हो। लेकिन कुछ वर्षों बाद उनके इस सिद्धान्त की आलोचनाएं 'समुदायवादियों और नारीवादियों ने कीं। समुदायवादियों ने सामान्य तौर पर उदारतावाद और विशेष रूप से रॉल्स के सिद्धान्त की इसलिए आलोचना की कि इसमें व्यक्ति की अणुवादी संकल्पना पेश किया गया है।' रॉल्स की आलोचना करने वाले आलोचकों का मानना था कि वंचित और अल्पसंख्यक समुदाय को वास्तविक रूप से न्याय तब मिल सकता है जब वे सामूहिक रूप से अभिव्यक्ति की आजादी प्राप्त कर सकेंगे। यानी सामाजिक न्याय की अवधारणा का अर्थ किसी भी समाज के सामूहिक विकास और अभिव्यक्ति से जुड़ा हुआ है। व्यक्तिगत विकास और उसकी आजादी का प्रभाव समाज पर व्यापक रूप से नहीं पड़ता है। इस संदर्भ में समाजवादी चिंतक राममनोहर लोहिया के विचार का

समर्थन किया जा सकता है। वे इस बात पर जोर दिया करते थे कि 'पिछड़ों, दलितों, अल्पसंख्यकों और स्त्रियों को एकजुट होकर सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष करना चाहिए। वे चाहते थे कि ये समूह एकजुट होकर सत्ता और नौकरियों में ऊंची जातियों के वर्चस्व को चुनौती दें।' डॉ. भीम राव अम्बेडकर ने तो शोषित, पीड़ित, वंचित जनता को शिक्षित और संगठित होकर अपने अधिकारों की मांग की बात कही थी। वे यह भी कहते थे कि 'सभी मनुष्य एक ही मिट्टी के बने हुए हैं और उन्हें यह अधिकार भी है कि अपने साथ अच्छे व्यवहार की मांग करें।' यह विचार सामाजिक न्याय की बुनियादी और सही व्याख्या करता है।

इस सामाजिक न्याय की अवधारणा से विभिन्न तबकों के लोगों के जीवन स्थितियों में सुधार आया है। उनका जीवन सौदेश्यपूर्ण और गरिमामय बना है। दलित, आदिवासी, पिछड़े और स्त्रियों का एक बड़ा समूह का जीवन स्वावलम्बनपूर्ण बना है। वे वर्ग सशक्तीकरण की ओर उन्मुख हुए हैं। खासकर ग्रामीण इलाकों में शोषितों, वंचितों और स्त्रियों में शिक्षा, समानता, आर्थिक आधार मजबूत करने की चेतना जाग्रत हुई है। कभी-कभी उसे पाने के लिए विरोध और विद्रोह के स्वर भी गूँजते हैं। इस दृष्टि से सामाजिक न्याय अस्तित्व और अस्मिता के संघर्ष का दूसरा नाम है। यह वैश्विक स्तर पर उन्नत समाजों के निर्माण प्रक्रिया की प्रगतिशील विचारधारा है।

शहरी और सुविधा सम्पन्न स्त्रियों ने तो शिक्षा, साहित्य, कला, संस्कृति, ज्ञान, विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र इत्यादि तमाम क्षेत्रों में परचम लहराया है। मगर आज भी स्त्रियों का एक बड़ा समुदाय सामाजिक न्याय से वंचित है। शिक्षा के अंधकार में वे ही सबसे अधिक डूबी हैं। गांवों में रहने वाली ऐसी स्त्रियों की संख्या बड़ी है, जिनमें खासकर गरीब, दलित, आदिवासी और पिछड़े वर्ग की, जिनमें मुस्लिम समुदाय की स्त्रियां भी शामिल हैं। वे नागरिक अधिकारों से भी अनभिज्ञ थीं। वे अपने अस्तित्व और अस्मिता के लिए संघर्षरत हैं। भारत सरकार द्वारा चलाई जा रही स्त्री सशक्तीकरण की परियोजना का प्रभाव इन स्त्रियों के जीवन पर पड़ रहा है। पांच सौ से अधिक गांव इस योजना से लाभान्वित हो चुके हैं। इनका आत्मविश्वास जागा है। शिक्षा, स्वरोजगार के प्रति जागरूक हुई हैं। इसे पाने के लिए प्रयत्नशील भी हैं। इनके रहन-सहन में सुधार हुआ है। परिवार नियोजन जैसे मुद्दों के प्रति वे जागरूक हुई हैं। सशक्तीकरण की ओर उन्मुख महिलाओं के प्रति भी लाभान्वित हो रहे हैं। इस योजना की खूबी यह है कि अब वे स्वयं संगठित

होकर नेतृत्व करने लायक बन रही हैं। इसीलिए उनके बीच शक्ति प्रदर्शन और शिक्षा के महत्त्व को प्रकट करने वाले नारे उनके समूहों में गूंजने लगे हैं। वे ओजस्वी स्वर में गाती हैं-

‘भारत की नारी है फूल नहीं चिंगारी है।’
‘पढ़ी लिखी माता भारत की विधाता।’

ये पंक्तियां उनमें उत्साह और जोश उत्पन्न करती हैं। आज महिला सशक्तीकरण की जो योजना और चेतना दिखाई दे रही है। इसकी जड़ें अतीत में छिपी हैं। यह जग जाहिर है कि भारत में स्त्रियां सबसे अधिक शोषित नहीं हैं। एक ओर उन्हें देवी कह कर उनकी पूजा करने की बात कही गई तो दूसरी तरफ सती के नाम पर उन्हें जिंदा जला दिया जाता था। पुरुष के बराबर तो क्या उन्हें मनुष्य तक नहीं समझा गया। शिक्षा के अधिकारों से वंचित रखा है। जिनमें दलित, आदिवासी और पिछड़े समाजों की स्त्रियों की स्थितियां उनके समाजों से भी ज्यादा दयनीय थीं। वे अघोषित गुलाम, अस्पृश्य और बहिष्कृत समाज की स्त्रियां होने के कारण उन्हें कीड़े-मकोड़ों की तरह जब जिसने चाहा, वहां उनका उपयोग और उपभोग किया गया। वे मात्र वस्तु समझी गईं। उनकी स्थिति यूज एण्ड थ्रो जैसी थी। इच्छा-अनिच्छा का कोई मतलब नहीं था। उनके समाज का पुरुष भी इतना सशक्त नहीं था कि वह अपनी स्त्रियों की रक्षा कर सके। ऐसे वातावरण में स्त्रियों सहित पूरा दलित समुदाय सामाजिक न्याय से वंचित था।

डॉ. बी.आर. अम्बेडकर स्त्रियों की दयनीय स्थिति के प्रति गंभीर थे। उन्होंने स्त्रियों के सशक्तीकरण के लिए अनेक प्रयास किए। 19 फरवरी 1942 को नागपुर में अखिल भारतीय ‘दलित फेडरेशन’ के अधिवेशन में कहा था - “मैं स्त्री समाज की प्रगति पर ही दलित समाज की प्रगति का मापदंड रखता हूँ। महिलाओं का संगठन आवश्यक है। महिलाओं! स्वच्छ रहिए, अपने आपको दुर्गुणों से दूर रखिए, बेटियों को लिखाइए-पढ़ाइए उनके मन में महत्वाकांक्षाएं पैदा होने दीजिए। उनकी शादी जल्दी करने की कोशिश मत कीजिए।” (डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर-वसंत मून, पृ. 126) वे यह भी कहते थे कि ‘कोई भी आन्दोलन महिलाओं के बिना संभव नहीं है।’ महिलाएं इस समाज की आधी ऊर्जावान आबादी हैं। यह बात डॉ. अम्बेडकर अच्छी तरह जानते थे। इसीलिए वे उनकी भागीदारी को समाज के हर क्षेत्र में आवश्यक मानते थे। यही कारण था कि भारतीय स्त्रियों को मातृत्व अवकाश देने के बारे में उन्होंने ‘बंबई राज्य की असेंबली’ में 21 फरवरी 1928

को भाग लिया। कर्मचारी महिलाओं को उनके प्रसव में छुट्टी दिलाने के बारे में बिल पेश किया गया था। उसका उन्होंने जोरदार समर्थन करते हुए कहा - “देश की इन माताओं को मातृत्व काल की निश्चित अवधि में विश्राम मिलना ही चाहिए।...शासन अथवा मालिकों को इन महिलाओं का खर्च उठाना चाहिए।” (वही, पृ. 45) हमारे देश में डॉ. बी.आर. अम्बेडकर ने स्त्रियों को मातृत्व अवकाश प्रदान करने की जो पहल की वह सामाजिक न्याय और स्त्री सशक्तीकरण की मजबूत कड़ी है। उनकी यह पहल स्त्री पक्षधरता को दर्शाती है। तत्कालीन समय में उनका यह प्रयास अपने आप में साहसिक कदम था और जो उनकी प्रगतिशील सोच को दर्शाता है। इतना ही नहीं स्त्री सशक्तीकरण के लिए उन्होंने और भी कई महत्त्वपूर्ण कार्य किए। जब डॉ. अम्बेडकर को वायसराय की काउंसिल में 20 जुलाई 1942 को श्रम - सदस्य के रूप में शामिल किया गया। तब उन्होंने अपने इस चार वर्षीय कार्यकाल में स्त्रियों से जुड़े कई कानून बनाए और पुराने कानूनों में बदलाव किया था। जैसे-कारखानों और खादानों में काम करने वाली महिलाओं के काम के घंटे और स्त्री-पुरुष श्रमिकों के लिए समान वेतन का प्रावधान किया गया। इन कामकाजी महिलाओं के छोटे बच्चों के लिए नजदीक पालनाघर बनाए गए थे। आज की भाषा में क्रेच थे इनके स्वास्थ्य की सुरक्षा और जीवन बीमा जैसे अधिनियम भी बनाए गए थे। त्रासदी यह है कि आजाद देश में श्रमिक वर्ग की स्त्रियों और उनके बच्चों के लिए न क्रेच की व्यवस्था है न शिक्षा और न स्वास्थ्य से संबंधित व्यवस्था है।

डॉ. अम्बेडकर दलित स्त्रियों को अनेक सभाओं में आत्मनिर्भर बनने की शिक्षा दिया करते थे। ‘दूसरों की सहायता पर जीना मत सीखो, स्वावलंबी बनो।’ 30 दिसम्बर 1935 को उन्होंने महिलाओं को संबोधित करते हुए कहा था - “अगर आदमी गलती कर रहा हो तो औरतों को उसके विरुद्ध विद्रोह करना चाहिए। सारे समाज की प्रतिष्ठा प्रगति और कीर्ति नारियों के हाथ में होती है।” (वही, पृ. 92) वे नारीवादी सिमोन द वोउवार की तरह स्त्रियों को संबोधित करते थे। नारीवाद स्त्रियों की पहली शर्त होती है कि उसे स्वावलंबी होना चाहिए। पुरुषों के समान बराबरी की चेतना इसे पाने के लिए विरोध और विद्रोह की शिक्षा डॉ. बी.आर. अम्बेडकर भी दे रहे हैं। इस दृष्टि से डॉ. बी.आर. अम्बेडकर भारत के संविधान निर्माता के साथ बड़े स्त्री और विमर्शकार भी थे। समाज की स्त्रियों और उनके सशक्तीकरण की चिंता उनके पूरे चिंतन में देखने को मिलती है। वे अपने परिवार तक सीमित नहीं रहे। पूरे दलित समाज और स्त्रियों के उत्थान और उन्हें सामाजिक न्याय दिलाने का तर्क दिया करते थे।

अनेक पुस्तकों में कई बार मिलता है कि डॉ. बी.आर. अम्बेडकर अपनी पत्नी रमाबाई का बीमारी में भी ध्यान नहीं रख पाते थे। उनकी पत्नी को भी अनेक बार शिकायत होती थी। ऐसे अवसरों पर डॉ. बी.आर. अम्बेडकर कहा करते थे - “मेरी पत्नी की बीमारी के अलावा इस देश में सात करोड़ अछूत हैं, जो उनसे भी ज्यादा बीमार हैं। वे अनाथ हैं। असहाय हैं। उनकी देखभाल करने वाला कोई नहीं है। मैं इन सात करोड़ अछूत रोगियों की सेवा में लगा हूँ। इसका ध्यान उन्हें होना चाहिए।” (युग पुरुष बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर-शंकरानंद शास्त्री, पृ. 54) समाज उनकी प्राथमिकता में था। इस चिंता में उनसे परिवार की अपेक्षा भले हुई हो मगर वे अपनी पत्नी के प्रति असंवेदनशील नहीं थे। जब 27 मई 1935 को उनकी पत्नी रमाबाई का निधन हो गया था। उस वक्त डॉ. बी.आर. अम्बेडकर टूट गए थे। श्री शंकरानंद शास्त्री के हवाले से कहें - “शमशान भूमि से लौटने के बाद एक हफ्ते तक डॉ. अम्बेडकर ने अपने आपको कमरे में बंद रखा और बार-बार हुलक-हुलक कर रोते-रोते बिलख पड़ते थे।” (पृ. 54) यहां उनका मानवीय पक्ष मजबूत है और पत्नी प्रेम भी उभर कर आया है। पत्नी की उपेक्षा करना उनका मकसद कभी नहीं रहा। समय के अनुसार उनकी प्राथमिकताएं अवश्य सामान्य मनुष्य से अलग थीं। जिम्मेदारियां राष्ट्रव्यापी थीं। वे सच में राष्ट्र की सेवा-सुश्रुषा में संलग्न थे। डॉ. बी. आर. अम्बेडकर सच्चे राष्ट्र प्रेमी और स्त्री सशक्तीकरण के जनक थे।

वे मात्र दलित स्त्रियों को सामाजिक न्याय, अधिकार और सशक्त नहीं बनाना चाहते थे। बल्कि वे भारत देश की प्रत्येक जाति, धर्म की स्त्री की जीवन स्थितियों को सुधारना चाहते थे जो उस वक्त मानवीय अधिकारों से वंचित थीं। समाज में वे देवी तो अवश्य थीं मगर मनुष्य नहीं थीं। इस बात को डॉ. अम्बेडकर ने सबसे पहले महसूस और उन्हें एक मानव होने के अधिकारों को दिलाने के लिए प्रामाणिक रूप से ‘हिन्दूकोड बिल’ को पास कराने की दलीलें दी थीं। अफसोस तत्कालीन समाज स्त्रियों के प्रति संवेदनशील नहीं था।

सन् 1947 में ‘हिन्दूकोड बिल’ का मसविदा तैयार करके संविधान सभा में रखा था। यह बिल मुख्य रूप से हिन्दू परिवार की स्त्रियों को सम्पत्ति में अधिकार, विवाह, तलाक और गुजारा भत्ता से संबंधित था। बच्ची को गोद लेने और बच्चों के संरक्षण का अधिकार भी था मगर दुःखद बात यह थी कि इसे उस समय यथारूप में संविधान

सभा में पास ही नहीं होने दिया था। सबसे अधिक विरोध के स्वर हिन्दू परिवारों, संस्थाओं की ओर से हुआ था। हिन्दू समाज ने इसे रोकने की पूरी ताकत लगा दी थी। कानूनी रूप से हिन्दू स्त्री की स्वतंत्रता का प्रश्न बीच में ही अटक गया था। इससे डॉ. बी.आर. अम्बेडकर को घोर निराशा हुई थी। उन्होंने कानून मंत्री पद से त्याग पत्र 27 सितम्बर 1951 को प्रधानमंत्री की सेवा में प्रस्तुत कर दिया गया था जिसे 27 अक्टूबर को स्वीकृत कर लिया गया था। कालान्तर में बड़े संशोधनों के साथ वह बिल पास हुआ था। यदि यह बिल उसी समय यथारूप में पास हो गया होता तो स्त्रियां बहुत पहले सशक्त हो गई होतीं, जिसमें दलित समाज की स्त्रियां भी शामिल थीं। आज की चेतना से यह बहस की जा सकती है कि बहिष्कृत दलित समाज की स्त्रियों को क्या फायदा था इस बिल से। मगर हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि तत्कालीन समय में दलित समाज बहिष्कृत होते हुए भी वह हिन्दू समाज का अभिभाज्य अंग माना जाता था। उस समय तक दलित समाज न तो बुद्ध धम्म की ओर आकर्षित हुए थे और न आज की तरह अन्य किसी धर्म आजीवक या संत रैदास धर्म इत्यादि की अवधारणा विकसित हुई थी। इसलिए दलित हिन्दू समाज के गुलाम सरीखा थे। अतः हिन्दू कोड बिल से कानूनी रूप से सब स्त्रियां न्यूनाधिक लाभान्वित होतीं, जो हिन्दू धर्म की श्रेणी में आती थीं।

आज भी देश की स्त्रियां, सम्पत्ति, विवाह तलाक, इत्यादि अधिकारों से पूरी तरह लाभान्वित नहीं हो पाई हैं। कानून उनके पक्ष में होते हुए भी समाज व्यावहारिक रूप से अधिकार देने का मानस नहीं बना पाया है। इसलिए उनके लिए सामाजिक न्याय और सशक्तीकरण का प्रश्न अधूरा है। दलित स्त्रियों की स्थितियां और भी शोचनीय हैं। वे शैक्षिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक रूप से सशक्त नहीं हो पाई हैं।

इस तरह डॉ. बी.आर. अम्बेडकर ने स्त्री सशक्तीकरण की जो पृष्ठभूमि तैयार की थी। उसका लाभ सभी वर्ग, वर्ण की स्त्रियों को देर से और टुकड़ों में ही सही मिला अवश्य है। वे सशक्तीकरण की ओर उन्मुख हो रही हैं। शिक्षा, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान, मीडिया, राजनीति, अर्थशास्त्र, उद्योग व्यापार इत्यादि क्षेत्रों में स्त्रियों की भागीदारी बढ़ी है। वे सशक्तीकरण की ओर निरंतर कदम बढ़ा रही हैं। इनमें दलित स्त्री का प्रतिशत शून्य है। वे अभी सशक्तीकरण की प्रक्रिया में ही हैं। दलित स्त्रियों की बड़ी संख्या विकास की सीढ़ी में सबसे निचले पायदान पर खड़ी है।

जिस प्रकार आज हिन्दी साहित्य में मन्नु भंडारी, कृष्णा सोबती से लेकर अनामिका, मैत्रेयी पुष्पा अर्चना त्रिपाठी, चित्रा मुदगल, मृदुला गर्ग तमाम स्त्रियाँ अपने अनुभवों, भावनाओं और संवेदनाओं को व्यक्त करके साहित्य में अपना योगदान दे रही हैं। उसी तरह दलित स्त्रियों ने साहित्य में अपना योगदान देने की शुरुआत कर दी है। उनकी संख्या कम अवश्य है। मगर वे निरंतर इस क्षेत्र में सक्रिय हैं। यहां यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि दलित साहित्य की चेतना ने दलित स्त्रियों को भी साहित्य में भागीदारी के अवसर प्रदान किए हैं।

महाराष्ट्र बाबा साहब डॉ. अम्बेडकर की जन्मभूमि और कर्मभूमि थी। इसका लाभ वहां के दलितों और उनकी स्त्रियों को बखूबी मिला है। महाराष्ट्र की चर्चित लेखिका उर्मिला पवार की 'आयदान', बेबी कांबले की 'जीवन हमारा', शांताकृष्णा कांबले की 'नाजा' और कौशल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप' ये दलित लेखिकाएं अपनी आत्मकथा में अपने परिवार, समाज के अनुभवों कष्टों का सामना करते हुए वे कैसे सशक्त हुई हैं। इसका श्रेय वे सब डॉ. बी.आर. अम्बेडकर को देना नहीं भूलतीं। उनकी आत्मकथाएं उस आड़ने का वह बिंब दिखाती हैं जो हिन्दी साहित्य या अन्य भाषाओं के साहित्य में दिखाई नहीं देता। उनकी रचनाओं में स्त्री जीवन के विभिन्न पक्ष, अनुभव उभरते हैं। साहित्य की अन्य विधाओं, आलोचना और इतिहास में भी महत्वपूर्ण काम किया है। इस बारे में मीनाक्षी मून और उर्मिला पवार 'आम्ही इतिहास गढ़ बला' ऐतिहासिक महत्व की उल्लेखनीय पुस्तक रही हैं। यह दलित स्त्री की ऐतिहासिक संघर्ष की कहानी बताती हैं।

मैं हिन्दी क्षेत्र की होने के कारण हिन्दी पर ही केन्द्रित रहना चाहूंगी। इधर पिछले दो ढाई दशक से दलित साहित्य लेखन आन्दोलन की चेतना तीव्र हुई है। इस चेतना में दलित लेखिकाएं प्रारंभ में कम अवश्य थीं। दलित साहित्य में प्रारम्भिक जमीनी स्तर पर अम्बेडकर की विचारधारा से जो अनेक लेखकों का योगदान रहा है। इनमें मंसाराम विद्रोही, कर्मशील भारती, पन्ना लाल, श्यौराज सिंह बेचैन इसके अलावा डॉ. विमल कीर्ति ने अंगुत्तर पत्रिका निकली और डॉ० तुलसीराम की 'अश्वघोष' भी उल्लेखनीय रही है। ये सामूहिक आवाजे थीं। इसमें दलित स्त्री केन्द्र में नहीं थी। इस क्षेत्र में डॉ. कुसुम वियोगी ने एक सार्थक कोशिश की थी। अपने सम्पादन में 'हिन्दी की चर्चित दलित स्त्रियों की कहानियाँ' पुस्तक प्रकाशित की थी। वे दलित स्त्री चिंतन के बारे में अपनी पुस्तक 'दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर' में लिखती हैं - "दलित महिलाओं को वह सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और

राजनैतिक सुरक्षा प्राप्त नहीं है जो आज सवर्ण महिलाओं को जाति के आधार पर परंपरागत रूप से प्राप्त है। दलित महिला का शोषण तिहरे रूप में हो रहा है। अस्पृश्यता की तपिश, गरीबी और पितृसत्ता की मार को एक साथ झेलती है जबकि गैरदलित गरीब महिला आर्थिक और यौन शोषण को झेलती है।” (पृ. 92) दलित लेखकों ने भी अपने साहित्य में दलित स्त्री की समस्या को दर्ज किया है। उनके साहित्य की विभिन्न विधाओं में स्त्रियां विभिन्न रूपों में आई हैं। कहीं वे बहिष्कृत, वंचित हैं तो कहीं शिक्षा के अंधकार की मार झेलती हुई अस्मिता विहीन सी दिखती है। इस तरह के चरित्र को चित्रित करने वाले दलित साहित्य के प्रतिष्ठित साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि की स्त्री विषयक पहली कहानी ‘जंगल की रानी’, और ‘यह अंत नहीं’ आदि उल्लेखनीय हैं। अन्य लेखकों में हिन्दी के सुविख्यात लेखक सूरजपाल चौहान की कहानी ‘बदबू’ का विशेष महत्त्व है। इसकी पात्रा संतोष दसवीं पास होने के बावजूद मैला साफ करने का पुशतैनी काम तमाम दबावों के बाद हार कर स्वीकार लेती है। यह दलित समाज की मजबूरियों और उनकी मानसिकता को दर्शाता है। ऐसा नहीं है कि इस दौर में निराशाजनक साहित्य ही रचा गया। दलित साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर और सुविख्यात आत्मकथा लेखक श्यौराज सिंह बेचैन के साहित्य की लगभग सभी विधाओं में स्त्री केन्द्र में रही है और विभिन्न रूपों में उसका चित्रण रहा है। कहीं जाति, गरीबी, अशिक्षा के गर्त में दबी है तो कहीं वह आज की जागरूक नारी बन अपना और अपने बच्चों खास कर लड़कियों को पढ़ाने बढ़ाने की चेतना से सम्पन्न है। वे अपनी एक कविता में लिखते हैं, नमूना देखें-

“मैं न पढ़ी
 न मेरे बालका
 शोषण करें है
 मिल मालिका
 मेरी बहना मोड़ न मिली है
 स्वराज गुलामों जैसी है जिन्दगी...मेरी..
 कड़वी दुखिली
 वैरिन रात है
 रोटी रोजी की
 उलझन खास है
 मेरी बहना ललुआ

पड़ो है बीमार नकद मांगे वैद्यजी मेरी..
 करजा में गिरवी
 खेतों बाप को
 माया है पटवरिया
 के पाप की
 मेरी बहना पुलिस
 वकीलन की मार पड़ी है मोय बेंत की...मेरी...?
 मायके रहूं या?
 ससुराल में
 मैं तो हूं जैसे मछली जाल में।”

यहां एक दलित स्त्री की सामाजिक, आर्थिक और कानूनी स्थितियाँ प्रकट हुई हैं।

हिन्दी के चर्चित रचनाकार जयप्रकाश कर्दम ‘छप्पर’ उपन्यास में दलित और गैर दलित, सशक्त और असशक्त रूपों में चित्रित नारी के चरित्र देखने को मिलते हैं। उनकी दोनों वर्णों की पात्राएं संघर्ष की चेतना से संपन्न हैं। दलित लेखिकाओं में सुशीला टाकभौरे का नाम उल्लेखनीय है। उनकी चर्चित आत्मकथा ‘शिकंजे का दर्द’ में दलित स्त्री परिवार और समाज दोनों जगह शिकंजे में कसी हुई दिखाई देती है। सिलिया और रामकली जैसी स्त्री संवेदना को छूने वाली कहानियां भी लिखी हैं। वे मूलतः कवयित्री हैं। उनके यहां कवि हृदय अधिक संवेदनशील रूप में उभरा है - उनकी कविताओं में सिर्फ नकार का ही स्वर नहीं है। भावनाओं और दर्द के समुद्र में सकारात्मक संदेश भी है जब वे लिखती हैं-

“मुझे अनन्त असीम दिगन्त चाहिए,
 छत का खुला आसमान नहीं,
 आसमान की खुली छत चाहिए,
 मुझे अनन्त आसामन चाहिए।”

इसके अलावा शांति यादव की कविता ‘बाप की टोपी’ एक स्त्री की गहरी संवेदनाएं उसमें उभरी हैं। अन्य दलित स्त्री रचनाकारों में कावेरी, राजनी तिलक और नई रचनाकारों में रजनी अनुरागी, कौशल पवार, पूनम तुषामड, अनीता भारती इन पंक्तियों की लेखिका इत्यादि स्त्री रचनाकारों ने साहित्य में अपनी उपस्थिति दर्ज करा रही हैं। वे साहित्य की विभिन्न विधाओं के माध्यम से अपनी खोई हुई पहचान ढूंढने, समाज में न्याय पाने की झटपटाहट अपने को सशक्त बनाने की चेतना इनकी रचनाओं में मुखरित होती हैं।

संदर्भ-

1. डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर-वसंत मून (वैचारिक), नेशनल बुक ट्रस्ट, ए-5 ग्रीन पार्क, नई दिल्ली, संस्करण-1991
2. शंकरानंद शास्त्री - युग पुरुष बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर (जीवनी), बाबा साहेब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर रिसर्च इंस्टीट्यूट, नई दिल्ली, संस्करण-1990
3. मधु लिमये - डॉ. अम्बेडकर एक चिंतन (वैचारिक), सरदार वल्लभभाई पटेल एजुकेशनल सोसाइटी, नई दिल्ली, संस्करण-1990
4. पंडित चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु - बाबा साहेब के पन्द्रह व्याख्यान, बहुजन कल्याण प्रकाशन 360/16, 3 मातादीन रोड, सदातगंज लखनऊ, सप्तम संस्करण-1990
5. सोहनलाल शास्त्री विद्यावाचस्पति - हिन्दू कोड बिल और डॉ. अम्बेडकर, सम्यक प्रकाशन, 32/3, पश्चिम पुरी, नई दिल्ली, सप्तम संस्करण-2011
6. विमल थोरात - दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, 4697/3, 2 ए, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली - 110002, संस्करण-2010
7. श्यौराज सिंह बेचैन - मेरा बचपन मेरे कंधों पर (आत्मकथा) वाणी प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2014
8. श्यौराज सिंह बेचैन - नई फसल और अन्य कविताएं, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण-2014
9. विक्की पीडिया

डॉ. रजत रानी मीनू

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग

कमला नेहरू कॉलेज,

दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

मोबाइल नं. : 9911043588

ई-मेल: rajatranimeenu@gmail.com

भूमंडलीकरण और मीरा सीकरी की कहानियों का समाज

आज प्रौद्योगिकी एवं तकनीकी व्यवस्था की अभूतपूर्व प्रगति और सूचना क्रांति के तीव्र विस्फोट ने आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक व्यवस्था को पूरी तरह बदल दिया है। डॉ. पुष्पपाल सिंह की यह चिन्ता अकारण नहीं है कि "येन—केन प्रकारेण लक्ष्य तक पहुँचने की हड़बड़ाहट हमें जीवन के सभी क्षेत्रों में शार्ट कट की संस्कृति में ढाल रही है"¹। प्रसिद्ध वैज्ञानिक और शिक्षाविद् प्रो. यशपाल कहते हैं— "भूमंडलीकरण का अर्थ यह नहीं है कि यह सब लोगों के लिए बराबर है। इसमें वसुधैव कुटुंबकम् जैसी बात बिल्कुल नहीं है। भूमंडलीकरण एक ऐसी स्वेच्छाकारी प्रक्रिया है जिसके नियमों का पालन हमें करना पड़ेगा और हम सबको उसके पीछे चलना पड़ेगा। ये यह भी तय करेंगी कि हमारी स्थितियाँ कैसी होंगी। उन्हें कैसी होनी चाहिए। आपको अनुकूलित किया जाएगा"²। प्रो. यशपाल के उपर्युक्त कथन में तीन बातें महत्वपूर्ण हैं—

1. इसमें संबंधों के निर्वाह की भारतीय अवधारणा की उपेक्षा की गई है।
2. अविकसित और विकासशील देशों के भूमंडलीकरण की स्वेच्छाकारिता से प्रभावित होने और इन्हें अनुकूलित करने की बात अत्यंत घातक है।
3. यह भेदभाव की संस्कृति पर आधारित है। यानी शक्तिशाली और अशक्त दोनों के साथ भूमंडलीकरण की प्रक्रिया समान नहीं होगी।

यहाँ प्रभा खेतान का यह अनुभव भी महत्वपूर्ण प्रतीत होता है जब वे कहती हैं— "भूमंडलीकरण के नाम पर वस्तुतः नव पश्चिमीकरण है, जिसमें हम सबको रंगा जा रहा है"³। प्रभा खेतान के इस पश्चिमीकरण को यदि अमेरिकीकरण कहा जाए तो कुछ अत्युक्ति नहीं होगी। इस अमेरिकीकरण के संदर्भ में डॉ. पुष्पपाल सिंह की यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि "अमेरिकी संस्कृति ने प्रदान में ही विश्वास रखा, दूसरी संस्कृतियों से उसने ग्रहण प्रायः नहीं ही किया"⁴।

इसमें संदेह नहीं कि भारत एक विकासशील देश है। यहाँ का समाज इस अमेरिकीकरण से प्रभावित हुआ है, इसमें भी कोई दो मत नहीं लेकिन यह भी सच है कि भारतीय समाज की कई परतें हैं। हर परतों की अलग धारणाएँ,

मान्यताएँ, जीवनशैलियाँ, रूढ़ियाँ, परंपराएँ और वैचारिकता है। सामाजिक मूल्यों और नैतिक मूल्यों के प्रति भी समाज के अलग-अलग स्तरों के लोगों की सोच में भिन्नता है। समाज के मध्यवर्ग ने वर्षों तक रूढ़ियों और परंपराओं को बचाए रखने के लिए संघर्ष किया है। आज भी यह मध्यवर्ग संघर्षरत है, लेकिन अब यह संघर्ष केवल बाहरी नहीं, भीतरी भी है। भूमंडलीकरण ने भारतीय समाज को जो नई दृष्टि दी है, उससे भारत का मध्यवर्ग भी प्रभावित है, लेकिन उसके संस्कारों की भारतीयता अभी नष्ट नहीं हुई है जिससे सबसे अधिक अंतर्द्वन्द्व और विरोधाभास इसी मध्यवर्ग की जिन्दगी में दिखाई पड़ता है।

उत्तर आधुनिक विचारों से भारतीय समाज में कई तरह के बदलाव आए। अमेरिका, फ्रांस, ब्रिटेन की तरह यहाँ भी रेडिकल फेमिनिज़्म का बौद्धिक विस्तार एक नई प्रश्नाकुलता के साथ दिखाई पड़ने लगा। नारीवाद एक वैचारिक क्रांति के रूप में भारतीय समाज को प्रभावित करने लगा। मैरी इगल्टन के संपादन में 'फेमिनिस्ट लिटरेरी थ्योरी: ए रीडर' नामक पुस्तक सन् 1996 में प्रकाशित हुई जिसमें एकेडेमिक, एक्टेविस्ट, कल्चरल, साइबर फेमिनिज़्म, फ्रेंच, इंटरनेशनल, मार्क्सिस्ट, रेडिकल फेमिनिज़्म आदि कई मुद्दों पर विस्तृत चर्चा की गई। इसमें सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों में भी काफी बहसों को स्पेस दिया गया। वैसे तो 1960 ई. के आसपास ही फेमिनिज़्म एक सामाजिक-राजनीतिक आंदोलन के रूप में काफी प्रभावकारी बन गया, लेकिन आठवें दशक के आसपास अंतरराष्ट्रीय नारीवाद आंदोलन के व्यापक प्रसार में भारतीय साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका रही। हिंदी साहित्य में भी कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, चित्रा मुद्गल, मृदुला गर्ग, चंद्रकांता, ममता कालिया आदि की भूमिकाएँ नारीवाद के विचार ग्रहण के रूप में साफ नज़र आने लगीं। मीरा सीकरी भी नारीवाद से प्रभावित दिखती हैं लेकिन इनकी कहानियों में रेडिकल फेमिनिज़्म की जगह लिबरल फेमिनिज़्म का ही अधिक प्रभाव है। 'दुल्हन गावहु मंगलाचार', 'बलात्कार', 'अपेक्षामुक्त', 'और मैं यंत्र हो जाती हूँ', 'मैं क्यों रोऊँ', 'मुपती माल' आदि कहानियों में 'नारी विरोध' आक्रामक नहीं है। 'मुक्ति द्वार' में विद्रोह है, लेकिन यह विद्रोह कम, आत्मप्रताड़ना अधिक है। इस कहानी की मोहिनी जैनंद्र के उपन्यास त्यागपत्र के मृगाल की तरह समाज की विडंबनाओं से लड़ती नहीं है, बल्कि स्वयं ही टूटती है, घुटती है और समझौता कर लेती है। मातृत्व और ममत्व भारतीय स्त्री की सबसे बड़ी

शक्ति तो है, लेकिन कहीं न कहीं यह स्त्री की कमजोरी भी है, जिससे वह अपने जीवन की समस्त यातनाओं और विसंगतियों से समझौता करने के लिए विवश है। — “मेरा अंतर्मन निरंतर छीज रहा था। अपने आप से ही घिन आती थी। रोज-रोज घुट-घुट कर जीने से अच्छा था मैं मर जाती। ज़हर का जुगाड़ तो मैं कर लेती, पर निर्दोष बच्चे आँखों के सामने आकर मुझे कमजोर बना देते। अपनी विषम गाथा लोगों के सामने ला मैं अनावृत होना भी नहीं चाहती। ऐसे में बच्ची ने जन्म लेकर मेरी मुक्ति का द्वार खोल दिया अपनी बच्ची को मारने की सज़ा ही मेरे लिए मुक्ति होगी। उस यातना शिविर से मुक्ति—मेरी मुक्ति ही क्यों हम दोनों की मुक्ति क्योंकि पांडवों के वंशज उसका ब्याह भी तो पांडवों के वंश में ही करते। मैंने उसे मारा नहीं। दोहरी मुक्ति पायी है”⁵। अपनी बच्ची की हत्या मोहिनी के लिए आत्मयातना और आत्मप्रताड़ना का ही एक प्रकार है लेकिन इसमें आत्मसंतोष का यह भाव अवश्य है कि उस बच्ची की मौत उसकी तरह हर दिन और हर पल नहीं होगी।

भारतीय दर्शन में आत्मप्रताड़ना सबसे बड़े दंड के रूप में वर्णित है। मीरा सीकरी के नारी पात्र समाज में फैली अराजकता और नैतिक मूल्यों के अवमूल्यन को रोकने में असमर्थ दिखते हैं, लेकिन उनकी अंतरात्मा उन्हें इनका हिस्सा बनने पर धिक्कारती है, जिसकी पीड़ा से वे मुक्त नहीं हो पाते हैं। ‘मुक्ति द्वार’ में मोहिनी का अपनी बच्ची की हत्या करना और दोहरी मुक्ति पाने के आत्मसंतोष से भर उठना विरुद्धों के जिस सामंजस्य और सामाजिक विडंबना का संकेत देता है, वह मीरा सीकरी की गहरी अनुभूति को तो दर्शाता ही है, प्रगतिशीलता के इस दौर में नारी की विवशता का भी संकेत देता है।

मीरा सीकरी प्रवासी भारतीयों के समाज में भारतीयता के चटक रंगों की ऊष्मा और सौंदर्य को महसूस करती हैं। वे देखती हैं कि उनकी जीवन-शैली में आधुनिकता और उत्तरआधुनिकता के बावजूद भारतीय संस्कृति की आत्मीयता का सौंदर्य अभी भी अपने निखार पर है। ‘मजीबा लाला’ कहानी के इस प्रसंग में समाज की आत्मीयता के महत्त्व को समझा जा सकता है। “नैरोबी में पंद्रह दिन में ही जान गले में आन फँसी है जबकि मोंबासा में तीन वर्ष कैसे बीत गए पता ही नहीं चला। उसे एक दिन भी तो नहीं लगा था कि वह भारत से बाहर है। गुजरात, पंजाब, यू.पी., बंगाल, केरल, हिंदू, मुसलमान, सिख, ईसाई सभी से भरा पड़ा था मोंबासा। बल्कि उसे तो लगता था कि आपसी एकता और संस्कृति तो यहाँ भारत से भी ज्यादा जीवन पा रही है”⁶।

किसी भी देश की सामाजिक व्यवस्था वहाँ की राजनीतिक और सांस्कृतिक व्यवस्था से प्रभावित और परिचालित होती है। चुनाव के समय व्यक्तिहित और सत्ता का लोभ सामाजिक मूल्यों की उपेक्षा करता है। मीरा सीकरी ने केन्या में सामाजिक स्थिति का जो चित्रण किया है, वह भारतीय चुनावी सामाजिक स्थिति से काफ़ी समानता रखती है। "उसने सुना तो था कि इलेक्शन के दिनों में अक्सर झगड़े-दंगे होते हैं इसीलिए अधिकांश एशिआई लोग अपने बीबी-बच्चों को केन्या से बाहर भेज देते हैं। यही वजह थी कि जब वे नैरोबी पहुँचे तो किसी सहयोगी ने स्वागतार्थ अपने घर नहीं बुलाया"। मीरा सीकरी कहानियों का एनआरआई समाज अमेरिकीकरण से पूरी तरह प्रभावित नहीं है। सहयोगियों का स्वागतार्थ अपने घर बुलाना इस बात का संकेत देता है कि भारतीय संस्कृति की संबंधनिर्वाह की प्रवृत्ति पूरी तरह खत्म नहीं हुई है।

यह भी सच है कि केन्या विकसित देश नहीं है। इसने काफ़ी संघर्ष किया है। यातना और अपमान की पीड़ा इस समाज ने नजदीक से देखी है। शायद इसीलिए इस समाज में नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था बची है—“उसी की सहयोगी केन्याई मुस्लिम ने उसे बताया था कि यहाँ की लोक संस्कृति में सभ्य और शालीन व्यवहार दिखावा नहीं, भीतर की गर्माई लिए हुए है। आम व्यवहार में किसी भी वस्तु को खरीदने से पहले खरीददार अभिवादन सूचक शब्द ‘जांबो’ कहने के बाद वस्तु का दाम पूछता है”⁸।

अफ्रीकी संस्कृति और अमेरिकी संस्कृति में काफ़ी अंतर है। अमेरिकी संस्कृति में आत्मकेंद्रित होने और उपभोक्तावादी भावों की प्रबलता है, जिसे मीरा सीकरी की कहानी ‘विसर्जन’ में देखा जा सकता है। यहाँ प्रवासी भारतीय समाज में संयुक्त परिवार का विघटन तो है ही व्यक्ति भी आत्मकेंद्रित दिखाई पड़ता है। “मैं अमेरिका में बहुत भुगत कर आया हूँ। मैंने बेटे के पर्स को हाथ लगाया तो वह कल की आई लड़की उसका वॉलेट मेरे हाथ से छीनकर ले गई। यहाँ हमें खाने-पीने की कमी थोड़े थी। हम तो साथ के सुख के लिए गए थे वहाँ, पर उनके नौकर बनकर रह गये”⁹।

मीरा सीकरी ने दो पीढ़ियों की मानसिकता, वैचारिकता और प्रवृत्तियों में आए बदलाव को भी नज़दीक से देखा है। उन्हें लगता है कि भूमंडलीकरण के कारण नव पूंजीवाद, आर्थिक बदलाव और बाज़ारवादी मानसिकता ने जिस तरह व्यक्ति केंद्रित संस्कृति को पनपने का स्पेस दिया है, उसमें संवेदना और

मूल्य बेमानी हो गये हैं। “बुदबुदाई— क्या रिश्ता है सास—ससुर और बहू—बेटे के बीच? इस रिश्ते में ही कुछ विषाणु छिपे हुए हैं, एक दूसरे को बर्दाश्त न कर पाने के—उस पर आज ये दोनों पीढ़ियाँ ही तो व्यक्तित्ववान हो चुकी हैं। अगर व्यक्तित्व रखना है, अपनी पहचान रखनी है तो अपनी जिन्दगी का बसेरा भी अपना ही रखना होगा”¹⁰। भारतीय समाज में स्त्री ही नहीं, पुरुष भी यदि अपने व्यक्तित्व और अस्तित्व को बचाये रखना चाहे तो इसके लिए मीरा सीकरी की दृष्टि में आर्थिक और आंगिक आत्मनिर्भरता आवश्यक है। “बच्चा माँ के गर्भ में पूर्ण हुआ कि प्रकृति उसे बाहर संसार में धकेल देती है, विसर्जन प्राकृतिक है बेटा। फिर दुख या आक्रोश क्यों? क्या मैं तुझे दुखी दिखती हूँ बस प्रार्थना कर जब तक जिँ, ये अंग क्रियाशील रहें, और उसने सिद्धासन मुद्रा में फिर आँखें मूँद लीं”¹¹। ‘विसर्जन’ कहानी भूमंडलीकरण के कारण निर्मित नव संस्कृति से मोहभंग की स्थिति को सामने लाती है। यह मोहभंग अपनी ही संतानों की प्रवृत्ति के कारण है। इस कहानी में तीन पीढ़ियाँ आमने—सामने हैं। दूसरी पीढ़ी भी अपनी माँ के प्रति संवेदनहीन है, लेकिन उसे अपनी संवेदनहीनता का अनुभव तब होता है, जब उसके बेटे और बहू उसे मानसिक प्रताड़ना देते हैं।

भारतीय समाज में (अब केवल महानगरों और बड़े शहरों में ही नहीं, बल्कि छोटे—छोटे कस्बों में भी) एक ओर दृष्टि डालें तो रूढ़िवाद और पिछड़ापन दिखता है और दूसरी ओर देखें तो अमेरिकी संस्कृति का वैचारिक खुलापन नज़र आता है। एक ओर यदि मृत परंपरा को ढोने की प्रतिबद्धता है, तो दूसरी ओर परंपरा के पुनर्मूल्यांकन की मांग और नव परंपरा निर्माण की होड़ है। भारतीय समाज उतार—चढ़ाव, विकास—पिछड़ापन, अतीत—वर्तमान, परंपरा—आधुनिकता, मानसिक द्वन्द्व—स्वच्छंदता आदि को अपनी समग्रता में दर्शाता है। इस समाज को विकसित—अविकसित, पारंपरिक—आधुनिक या उत्तर आधुनिक आदि की विभाजन सीमा में बाँधना कठिन है, क्योंकि आज भी यह समाज पूर्णतः व्यक्ति केंद्रित नहीं हो पाया है। इसलिए जगह—जगह जीवन शैली और विचारों में परिवर्तन नज़र आना स्वाभाविक है।

मीरा सीकरी की कहानियों में संपन्न मध्यवर्ग के विचारों और जीवन शैलियों में भूमंडलीकरण के कारण आई स्वेच्छाचारिता और स्वच्छंदता को समीप से देखा जा सकता है। ऐसा नहीं है कि ये संपन्न मध्यवर्ग सामाजिक नहीं हैं।

लेकिन इनकी सामाजिकता इनकी अपनी तरह की है। "इनकी अपनी मित्र मंडली है, शराब के दौर हैं। चित्रा-अजीतसिंह और मुन्नीबाई की गजलें हैं, फोइश चुटकुले हैं। जहाँ मेरा मन मरता है वहाँ ये जीते हैं-जहाँ मैं जीती हूँ वहाँ इनका अहं तिलमिलाता है और साहचर्य की आकांक्षा में मेरा मन दम तोड़ता रहता है। ये कहते हैं खीजना मेरा स्वभाव है। इसमें ये क्या कर सकते हैं। जो लोग एन्जॉय करना नहीं जानते, उनके लिए कोई क्या कर सकता है"¹²।

मीरा सीकरी भारतीय सामाजिक संरचना में स्त्रियों की स्थितियों को जानती हैं। यहाँ पुरुषों के वर्चस्व, महत्त्व, और वैयक्तिक स्वतंत्रता का ही अर्थ है, स्त्रियों की अस्मिता की चिन्ता नहीं है। पुरुष नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों को तोड़कर अपराधबोध से ग्रसित नहीं होता "दीदी जानती हैं आप यह प्रणय मिनी के ब्याह के बाद मुझे पुरी ले गया था-मैं खुश थी कि दायित्व मुक्त हम अपनी थकान उतार सकेंगे-पर जानती हैं आप यह प्रणय वहाँ हॉस्टल में अपने से बहुत छोटी उम्र की लड़की मेरे सामने लाकर बोला-मैंने इससे शादी कर ली है- मैं चाहूँगा यहीं जगन्नाथ जी की साक्षी में तुम हम दोनों को संरक्षण दे दो..."¹³। पुरुष अपने पुरुषत्व के अहं से कभी मुक्त नहीं हो पाता यही कारण है कि वह पत्नी को अपने अधीन रखना चाहता है, पत्नी की अधीनता स्वीकार करने की उदारता उसमें नहीं है। "शारदा बुरी नहीं पर बेहद हावी हो जाने वाली-बुरे शब्दों में कहूँ तो आक्रामक-अत्यधिक अहम् युक्त-अपने सामने किसी को कुछ न समझने वाली रही है। शादी से पहले ये विशेषताएँ लड़कियों को आगे पहुँचाने वाली हो सकती हैं, पर शादी के बाद यही चीजें पुरुष को छोटा बनाने वाली हो जाती हैं..."¹⁴।

भूमंडलीकरण ने जिस उपभोक्तावादी संस्कृति को पनपने के लिए बड़ी जमीन दी, उसमें अर्थ का महत्त्व काफी बढ़ गया। समाज के हर वर्ग में अर्थ का महत्त्व है। निम्नवर्ग का जीवन भी इसी की माया से परिचालित है। मीरा सीकरी की कहानियों में भी इसे देखा जा सकता है- "सो तो ठीक है बैन जी, पर भाई ब्याया हुआ है। बैठाने की बात कओ तो छोटी भाभी फिसाद कर देती है। बड़ी मुश्किल हो गई है। इब देखो न, जा मकान में मेरा भइया रैवे न वो मेरी बड़ी भाभी का ई है। अब अगर विसे भइया के साथ न बैठावें तो विनको मकान न खाली करना परेगा अउर भई सारे हमारे यां के जेवर अऊर चालीस

तोला चाँदी तो विसी के पास है¹⁵। अंत में पारबती की छोटी भाभी का अपने पति से विधवा जेठानी का विवाह करवाना इस विडंबना का सूचक है कि निम्न मध्यवर्गीय समाज में रिश्ते अर्थ के हाथों की कटपुतलियाँ हैं।

जॉन रंडेल कहते हैं— “उत्तर आधुनिकता में समाज एक ओर विखंडित और श्रेणीयुक्त बन जाता है, तो दूसरी ओर सूचना निर्भर प्रबंधन में नियुक्त हो जाता है और इस जगत में हर विखंडित समूह अपने आसपास फिर केंद्र को बनाता जाता है¹⁶। लेकिन भारतीय समाज की संरचना बिल्कुल अलग है। इस संरचना के केंद्र में भारतीय संस्कृति की मजबूत जड़ें हैं। यही कारण है कि यहाँ लिव इन रिलेशन में भी पुरुषों की स्वच्छंदता और आत्मकेंद्रित रहने की प्रवृत्ति बहुत दिनों तक नहीं चल सकती— “कुछ दिन क्यों, मैं आज ही यहाँ आ जाऊँगी पर आपको मेरे लिए एक कमरे का इंतजाम करना होगा, जहाँ स्वतंत्र रूप से किसी भी नियत और निश्चित फ्रेम से मुक्त मैं, ‘मैं’ बनकर रह सकूँ¹⁷। ‘मैं’ को बचाए रहने की चिन्ता और बेचौनी मीरा सीकरी की कहानी के सामान्यतः सभी नारी पात्रों में है। पुरुषों और परिवार को सबकुछ देकर भी ये पात्र ‘मैं’ को नकार नहीं पाते। लेकिन प्रतिशोध का भाव इनमें नहीं है। ये पात्र मौन रहकर खामोशी के साथ अपनी मुक्ति का मार्ग तलाश लेते हैं।

स्त्री विमर्श ने स्त्री के ‘स्व’, ‘अस्मिता’ और ‘स्वत्व’ को सामने रखकर स्त्री को बाह्य और आंतरिक प्रताड़ना से मुक्ति का मार्ग दिखलाया है। लिव इन रिलेशन के रूप में पारंपरिक वैवाहिक बंधनों की जकड़बंदी से मुक्त रहने का एक विकल्प दिया गया, लेकिन मीरा सीकरी की कई कहानियाँ इस बात का प्रमाण देती हैं कि समाज में पुरुषों की सामंती मानसिकता ने स्त्री स्वातंत्र्य को नकार दिया। स्त्री सबकुछ देकर भी एकाकीपन की यंत्रणा से मुक्त नहीं हो पाई। ‘अपनी म्याऊँ के लिए’ कहानी में स्त्री जीवन की यही विडंबना सामने आती है।

आचार्य शुक्ल ने किसी देश के साहित्य को ‘वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब माना है’। जनता की चित्तवृत्ति बदलती सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक दशाओं और दिशाओं से प्रभावित होती है। स्पष्ट है कि इससे साहित्य भी प्रभावित होता है। मुक्तिबोध कहते हैं—“साहित्य का अध्ययन एक प्रकार से मानव सत्ता का अध्ययन है; अतएव जो लोग केवल ऊपरी तौर पर साहित्य का ऐतिहासिक विहंगावलोकन अथवा समाजशास्त्रीय निरीक्षण कर

चुकने में ही अपनी इति कर्तव्यता समझते हैं वे एक पक्षीय अतिरेक करते हैं। ...आवश्यकता तो इस बात की है कि आलोचना में ऐतिहासिक समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक-सौंदर्यात्मक विवेचना की संपूर्ण एकात्मता रहे¹⁸। मीरा सीकरी की कहानियों में समाज के सोफिस्टिकेटेड वर्ग के साथ ऐसे वर्ग के लोगों की भी जीवनस्थितियाँ और मनोविज्ञान हैं जिनके नैतिक और सामाजिक बोध में परंपरा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। 'बलात्कार' कहानी में सोमा के पार्थिव शरीर को नहलाने के लिए अंतरवस्त्रों को कैंची से काटकर हटाने की प्रक्रिया में ऐसी मृत परंपरा का उल्लेख है, जिसमें मानवीय गरिमा को खंडित करने का बेहद कुरूप और यातनाप्रद प्रयत्न छिपा है। सन् 1947 के आसपास के भारतीय हिंदू समाज में विधवा स्त्री के जीवन के क्रूर पक्षों को 'सच्चो सच' कहानी में देखा जा सकता है— "तुम्हें बताने में मुझे ज़रा संकोच नहीं कि मैं विधवा की वीरान जिन्दगी जीना नहीं चाहती थी। मेरे घर के लोगों ने तो मुझे आग में जलकर मर गई समझ लिया होगा और मैं आग की दीवार लॉघ स्वतंत्र हो गई थी। हिंद-पाक विभाजन ने मुझे भी स्वतंत्रता दी—मैं मन और शरीर की रूढ़ियों से मुक्त हो गई थी। मिथ्या रूढ़ संस्कारों से मैंने मुक्ति पा ली थी"। इस कहानी में वैधव्य की यातना से मुक्ति की प्रश्नाकुलता देश, धर्म और जाति से ऊपर उठकर मनुष्यता की खोज करती है। अहमद की मनुष्यता से शांति बहन जैसी उपेक्षित विधवा को अपना वजूद मिला और उसने स्त्रीत्व की सार्थकता महसूस की।

मीरा सीकरी की कहानियों में बदलते समाज के लोगों के संस्कार, विचार और वृत्तियाँ हैं। 'अनहोनी की भूख' कहानी स्वप्न शैली में इक्कीसवीं सदी की लड़की की आशंका, डर और दुश्चिंता को सामने लाती है। आज यौन शोषण और यौन उत्पीड़न की जो खौफनाक घटनाएँ सामने आती हैं, उससे किसी लड़की का किसी जिम्मेदार पुरुष पर भी अविश्वास स्वाभाविक है। इस कहानी के केंद्रीय नारी पात्र के अचेतन में टैक्सी ड्राइवर के लिए खौफ आज के उस सामाजिक परिदृश्य की विडंबना को सामने लाता है, जिसमें स्त्री अधिकांश पुरुषों के लिए केवल भोग्या है।

तनाव, घुटन, साथ रहते हुए भी अकेलेपन और अजनबीयत के एहसास से आज के सामाजिक और पारिवारिक जीवन में दरारें पड़ने लगी हैं। मीरा सीकरी भी इसे अनुभव करती हैं। "अगर व्यक्तित्व रखना है, अपनी पहचान

रखनी है तो अपनी जिन्दगी का बसेरा भी अपना ही रखना होगा।¹⁹। उपभोक्तावादी संस्कृति के केंद्र में 'यूज एंड थ्रो' तथा 'गिव एंड टेक' का भाव काफी प्रबल है। 'बाहर चमक-धमक रहे, भीतर चाहे अँधेरा ही हो' यही इस संस्कृति में रंगे लोगों का मुख्य भाव है। "माँ वहाँ का बाहरी रूप आकर्षक है। देखने में स्वर्गिक सौंदर्य पर बहुत अकेलापन है वहाँ"²⁰। भूमंडलीकरण और बाजारवादी संस्कृति ने रिश्ते की प्रगाढ़ता खत्म कर दी— "किस युग की बातें कर रही हैं दीदी—आज की पीढ़ी को माँ—बाप नहीं, बस फास्ट फूड और टी. वी. चाहिए। और सैटल हुए तब माँ—बाप से किनारा तो करना ही है— हमारे दोनों साहबजादे—ब्याहे वाला भी और कुँवारा भी बैठे हुए हैं न अमेरिका— फोन भी हम ही करें तो करते हैं"²¹।

आज भारतीय समाज में अधिकांशतः ऐसा मध्यवर्ग है, जो आधुनिकता ही नहीं उत्तरआधुनिकता से परिचालित है। मध्यकालीन नियतिवाद से वह उबर चुका है। प्रगतिशीलता की ओर अग्रसर उसके महत्वाकांक्षी मन को अब रुढ़ियाँ रास नहीं आती। वह इससे निकलना चाहता है। उसके भीतर पारंपरिक विचारों के नवमूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन की बेचैनी तो है ही, स्वतंत्रता और अस्मिता के लिए संघर्ष का भी भाव है। लेकिन यहाँ ऐसा मध्यवर्ग भी है, जो आज भी नियतिवादी और पारंपरिक है। मीरा सीकरी की कहानियाँ दोनों सामाजिक स्थितियों का मनोवैज्ञानिक चित्रण करके उनके सांस्कृतिक बदलावों एवं ठहरावों का सौंदर्यशास्त्रीय विश्लेषण करती हैं।

संदर्भ सूची—

1. भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास, राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ.16
2. प्रो. यशपाल, उद्धृत अक्षर पर्व, मार्च 2004, नरेन का लेख
3. प्रभा खेतान, भूमंडलीकरण: ब्रांड संस्कृति और राष्ट्र, पृ.11, सामयिक प्रकाशन, 2007
4. भूमंडलीकरण और हिंदी उपन्यास, राधाकृष्ण प्रकाशन पृ.40
5. तप्तसमाधि तथा अन्य कहानियाँ, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 72
6. मजीबा लाला, पृ.55
7. वही, पृ.54
8. वही, पृ.55
9. वही, पृ.55

10. विसर्जन, पृ. 94
11. वही, पृ. 95
12. और मैं यंत्र हो जाती हूँ, पृ. 48
13. दुल्हन गावहु मंगलाचार, पृ. 117
14. वही, पृ.119
15. पैतरे, पृ.40
16. उत्तरआधुनिकतावाद, जगदीश्वर चतुर्वेदी, पृ.58
17. अपनी म्याऊँ के लिए
18. मुक्तिबोध, कामायनी एक अध्ययन परिशिष्ट, पृ.1
19. विसर्जन, पृ.94
20. वही, पृ.91
21. वही, पृ.91

डॉ. रीता सिन्हा

असिस्टेंट प्रोफेसर (तदर्थ), हिन्दी विभाग

कमला नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

मोबाइल नं. : 9818363465

ई-मेल: reetasinha_dr@yahoo.com

‘चाकलेट’ और नैतिकता का सवाल : अंतिम फैसला महात्मा गांधी का

हिंदी में साहित्यिक विवाद समय-समय पर प्रायः उठते रहे हैं। इन विवादों के केन्द्र में या तो साहित्य की कोई प्रवृत्ति होती है या फिर कोई कृति। वैसे कई बार व्यक्तिगत राग-द्वेष के कारण भी निरर्थक विवाद निहित स्वार्थों के कारण उठाए जाते हैं। हिंदी साहित्य के इतिहास में पांडेय बेचन शर्मा ‘उग्र’ के कहानी संग्रह ‘चाकलेट’ पर उठा विवाद इस दृष्टि से ऐतिहासिक है कि यह विवाद लगभग 25 वर्षों तक चला और इस विवाद में गांधीजी को भी घसीट लिया गया था।

कलकत्ता से अगस्त 1923 ई0 में महादेव प्रसाद सेठ के संपादन में ‘मतवाला’ साप्ताहिक का प्रकाशन आरंभ हुआ। मतवाला-मंडल के लेखकों में-निराला, आ0 शिवपूजन सहाय और नवजादिकलाल श्रीवास्तव-पहले ही से थे। बाद में पांडेय बेचन शर्मा उग्र भी इससे जुड़ गए। ‘मतवाला’ में उनकी कुछ रचनाएं पहले प्रकाशित हो चुकी थीं और कुछ बाद में भी हुईं। उग्र की विवादास्पद कहानी चाकलेट ‘मतवाला’ में ही प्रकाशित हुई। खुद ‘चाकलेट’ की भूमिका में जो ‘कैफियत’ शीर्षक से प्रकाशित हुई, में वे लिखते हैं-‘है कोई ऐसा माई का लाल जो हमारे वर्तमान समाज को नीचे से उपर तक सजग दृष्टि से देखकर, कलेजे पर हाथ रखकर, सत्य के तेज से मस्तक तानकर इस पुस्तक के अकिंचन लेखक से यह कहने का दावा करे कि-“तुमने जो कुछ लिखा है गलत लिखा है। समाज में ऐसी घृणित, रोमांचकारिणी और काजलकारी तस्वीरें नहीं हैं!” अगर कोई हो, तो सोत्साह सामने आवे, मेरे कान उमटे, मेरे छोटे मुंह पर थप्पड़ मारे, मेरे होशों के होश ठिकाने करे। मैं उस महापुरुष की ताड़ना का पुलकित-कलेवर स्वागत करूंगा।’

इस प्रसंग का खुलासा करते हुए वे आगे लिखते हैं-‘अपने वर्तमान समाज को भर आंख देखने और पहचानने की जबसे मुझे तमीज हुई तभी से मैं यह सोच रहा था कि कब मौका मिले और कब मैं समाज के सुकुमारमति सुन्दर बालकों के प्रति होने वाले इस नारकीय व्यभिचार की ओर, खुले से खुले शब्दों में, लोगों का ध्यान आकर्षित करूं। आखिर मुझे मौका मिला और मैंने उसका अपने इच्छानुसार उपयोग भी किया। इस-समाज के शब्दों में “लौंडेबाजी” और मेरे शब्दों में “चाकलेट-पंथी”- के विरुद्ध मेरी पहली कहानी ‘चाकलेट’ शीर्षक से,

कलकत्ता के प्रसिद्ध उथल-पुथलकारी 'मतवाला' पत्र में 31 मई सन् 1924 को प्रकाशित हुई।' इस कहानी के प्रकाशित होते ही समाचार पत्र के पाठकों में तूफान सा उठ गया। 'मतवाला' संपादक के पास और लेखक के पास शिकायत और प्रशंसा दोनों की ढेर सारी चिट्ठियां आने लगीं। हिंदी संसार में चाकलेट शब्द अछोर व्याप्त हो गया लेकिन उग्रजी ने इस चुनौती को स्वीकार किया और चाकलेट पंथी के विरोध में डटे रहे। लिखते हैं—'चाकलेट के बाद—कई महीनों के अंतर में—मैंने चार कहानियां और लिखीं—जिनके नाम हैं—'पालट', 'हम फिदाए लखनऊ', 'कमरिया नागिन सी बल खाए' और चाकलेट चर्चा'। अंतिम कहानी लिखते—लिखते मुझे बंबई चला जाना पड़ा। फिर, 124 ए० के वारंट ने मुझे तलब किया, 'स्वदेश' (विजयांक) संपादन के लिए केस चला और मैं नौ महीने के लिए जेल—गर्भ में टेल दिया गया।' आगे का किस्सा यह है—'जेल से बाहर आने के बाद मेरे अनेक मित्रों ने बड़े प्रेम से मेरे कानों में फुसफुसा कर कहा—'देखो उग्र, वह जो तुमने 'मतवाला' में 'चाकलेट' की कहानियां लिखी थीं उससे तुम्हारी बहुत बदनामी हुई। लोग तुम्हें 'छिछोरा', 'लौंडा', 'चाकलेट' और न जाने क्या—क्या कह—कह कर इधर—उधर तुम्हारी निंदा किया करते हैं, अब भाई वैसी कहानियां न लिखना! मारो गोली उस विषय को! चूल्हे में जाए चाकलेट और भाड़ में जाए उसकी चर्चा। जब सारा समाज ही इस विषय में मौन ही रहना चाहता है तब तुम्हें ही क्या पड़ी है जो आग से खेलने जा रहे हो।'

उग्र और चाकलेट का जोरदार विरोध हो रहा था। एक तरफ 'विशाल भारत' के संपादक पं० बनारसीदास चतुर्वेदी इसे घासलेट साहित्य कहकर इसका उपहास कर रहे थे, दूसरी तरफ बनारस के द्विदैनिक 'सूर्य' ने भी चाकलेट पंथी शीर्षक से धारावाहिक लेख छापे थे। कानपुर के 'प्रताप' ने भी इसी तरह का लेख छपा था। चाकलेट की कहानियों का विरोध करने वाले इस पर अश्लीलता और अनैतिकता दोनों का आरोप लगा रहे थे। उनको लगता था कि ऐसी कहानियां लिखकर उग्र समाज को भ्रष्ट कर रहे हैं, खासकर नवयुवकों में कुप्रवृत्ति और होमोसेक्सुयलिटी उत्पन्न कर रहे हैं। पं० चतुर्वेदी शुद्धतावादी भी थे और गांधीवादी भी। चाकलेट का सबसे पुरजोर विरोध उन्होंने ही किया था। उनकी दृष्टि में उग्र समाजद्रोही थे और नई पीढ़ी को कुमार्ग पर ले जा रहे थे। उग्र जी इन बातों से विचलित अवश्य थे लेकिन उन्हें अपने लेखन पर अटूट भरोसा था। वे महसूस करते थे कि ऐसी कहानियां लिखकर वे समाज की आंख खोल रहे हैं और युवकों को चाकलेट पंथियों के षडयंत्रों से, प्रलोभनों

से और उनकी धूर्तताओं से बचाना चाहते थे। उन्होंने लिखा है—‘इन राक्षसी तस्वीरों को देखकर वह राक्षसों को पहचानना सीखें और सीखें उनके आक्रमणों से अपने फूले—फूले गुलाबी गालों को रक्षित रखना, अपने अधर पल्लवों की रक्तिमा को महफूज रखना और हृदय की पवित्रता को साधारण प्रलोभनों से अधिक महत्व देना।’ इससे स्पष्ट है कि उग्र जी समाज के ही एक खास वर्ग, जो चाकलेट पंथियों से भरा था, का धिनौना चेहरा दिखाना चाहते थे। लेकिन यह एक ऐसा विवाद था जो थमने का नाम नहीं ले रहा था। दोनों पक्ष अपने-अपने समर्थन में प्रमाण जुटा रहे थे।

तीन वर्षों बाद जब 1927 में ‘चाकलेट’ का दूसरा संस्करण निकला तो उग्रजी ने पुस्तक के आरंभ में श्री रामनाथलाल सुमन का एक लंबा लेख ‘वैज्ञानिक विवेचन’ शीर्षक से दिया। साथ ही दरभंगा वासी सीताराम दास की भूमिका भी दी, साथ में कैफियत भी। सुमनजी ने अपने लंबे लेख में अप्राकृतिक व्यभिचार का वैज्ञानिक विवेचन करते हुए लिखा—‘चाकलेट देश के उन भोले-भाले, कमसिन और सुंदर लड़कों को कहते हैं, जिन्हें समाज के राक्षस अपनी वासना की तृप्ति के लिए सर्वनाश के मुख में ढकेलते हैं।’ इस प्रकार ‘चाकलेट पंथी’ बच्चों के साथ की जाने वाली ‘सोडोमी’ या अप्राकृतिक व्यभिचार का नाम है। यहां यह देखना है कि इस प्रकार के व्यभिचार का उद्गम क्या है? फिर उन्होंने व्यभिचार का उद्गम, व्यक्ति का विशलेषण, मनुष्य में पशु, मनुष्य की विशेष शक्तियां, सुख एवं सहयोग की आकांक्षा, राग का विशलेषण, स्त्री-पुरुष का संबंध, विभिन्न मनोवृत्तियों का विवेचन करते हुए स्पर्श क्रियाओं से व्यभिचार क्रिया का संबंध लिखा। ‘चुंबन, आलिंगन इत्यादि से वासना क्यों प्रबल और नग्न हो उठती है इसे समझने के लिए शरीर-विज्ञान की शरण लेनी पड़ेगी। शरीर के प्रत्येक भाग का दूसरे के साथ संबंध है। आंख, कपोल, कांख, हथेली, अधरोष्ठ और छाती की नसों योनि अथवा पुलिंग से मिली हुई हैं। अतएव इन स्थानों का स्पर्श करने के साथ स्पर्श किए जाने वाले पुरुष या स्त्री को एक प्रकार का स्पर्श-सुख (Sexual pleasure) मिलता है। इन स्थानों को स्पर्श करने से गुदगुदी होती है। यह गुदगुदी क्या है? एक प्रकार की बिजली जो पुरुष और स्त्री के गुप्त स्थानों की नसों में दौड़ने वाले रक्त से उत्पन्न होती है।

इस वैज्ञानिक विवेचन से अप्राकृतिक व्यभिचार, होमोसेक्सुयलिटी, लेस्विनियज्म, गो, सोडोमी, टांसजेंडर, वाईसेक्सुअल, प्राकृतिक यौन क्रियाओं और अप्राकृतिक यौन संबंधों के विभिन्न आयाम उद्घाटित होते हैं लेकिन इन कहानियों के

लिखने के पीछे उग्रजी की मानसिकता समाज में व्याप्त अप्राकृतिक यौन संबंधों से युवकों को सावधान करना था, उनके भीतर कामवासना जगाना नहीं। उग्रजी ने 'मतवाला' में प्रकाशित पहली कहानी 'चाकलेट' पर हुई नकारात्मक प्रतिक्रियाओं को चुनौती के रूप में लिया और इसी तरह की कुछ और कहानियां लिखकर समाज को सावधान करने का प्रयास किया चूंकि खुद उग्रजी भारी गरीबी और बेकारी से गुजरे थे और जीवकोपार्जन के लिए उन्हें रामलीला और नौटंकी पार्टियों में किशोरावस्था में काम करना पड़ा। बहुत संभव है कि अभिनय के अभ्यास के दौरान समाज के ऐसे लोगों का वीभत्स चेहरा उन्होंने देखा हो।

सीताराम दास की भूमिका पुस्तक के दूसरे संस्करण में दी गई है। इनसे उग्रजी व्यक्तिगत रूप से परिचित नहीं थे लेकिन 'चाकलेट' कहानी पर उठे विवाद के बाद उग्रजी ने इनसे स्कूलों में अप्राकृतिक व्यभिचार रोकने के लिए बिहार सरकार द्वारा की गई कार्रवाई की रिपोर्ट मांगी थी, जो इन्होंने भेजी भी। सीताराम दास लिखते हैं, '9 सितम्बर 1926 के 'यंग इंडिया' में महात्मा गांधीजी के Plight of school children शीर्षक लेख के नीचे दिए गए वाक्य भी बड़े काम के हैं—

one who knows what she is writing about says :

“until our boys says learn to conserve their vital forces India will never have the men she should have. For nearly 17 years I have had charge of boy's school in India. It is appalling to see the number of boys Hindu, Mohamedan and Christian who begin school life full of energy and enthusiasm and hope and end it physical wrecks. In literally hundred's of cases, I have traced this directly to self-abuse, Sodomy or early marriage. I have today the names of 42 boys guilty of sodomy and not a boy is over 13 years of age. Masters and house fathers will deny that these conditions exist but if the right tactics are used the trouble will be discovered and nearly always the boys will confess. A large percent of the boys confess to having been taught by men-often their relative. A public discussion of this very difficult and delicate subject has become necessary because one sees in respectable newspapers the sexual passion discussed with a freedom that would have not been possible a few years back.”

इससे यह भी स्पष्ट है कि समाज में ही नहीं बल्कि स्कूलों में भी यह अप्राकृतिक व्यभिचार व्याप्त था। इन साक्ष्यों के आधार पर उग्रजी को बड़ी राहत मिली लेकिन बनारसीदास चतुर्वेदी ने घासलेट साहित्य के विरोध में अपना अभियान जारी रखा। यहां तक कि इस विवाद में उन्होंने गांधीजी को भी घसीट लिया, जिसकी चर्चा आगे होगी।

25 वर्षों बाद जब 'चाकलेट' का तीसरा संस्करण 1953 ई0 में टंडन ब्रदर्स, 40 नीमतला घाट स्टीट, कलकत्ता-6, मूल्य-साढ़े तीन रूपये, प्रकाशित हुआ तो उग्रजी ने पुस्तक के तीसरे संस्करण की भूमिका 'भूमिका नहीं' में एक ऐसे रहस्य को उद्घाटित किया, जिससे संपूर्ण हिंदी समाज चौंक उठा। उग्रजी लिखते हैं- 'कलकत्ते में स्वर्गीय श्री बालमुकुंद गुप्त स्मृति-महोत्सव उस साल बड़े ठाटबाट से मनाया गया था। होगी बात सन् 1949-50 की। उसी सिलसिले में अनेक अन्य साहित्यिक महारथियों के साथ 'प्रोपागैण्डिस्ट'-प्रवर पं० बनारसीदास चतुर्वेदी भी कलकत्ते पधारे हुए थे।

चितरंजन एवेन्यू स्थित टीवड़ेवाले की धर्मशाला में अनेक आगत साहित्यिक ठहराए गए थे। वहीं, मैं पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी से बातें कर ही रहा था कि अनेक मित्र और आ गए, जिनमें पं० बनारसीदास चतुर्वेदी भी थे। श्रीनारायण की बहकी-बातों से फुर्सत पाते ही बनारसीदासजी उनके सामने से उठकर मेरे निकट आ रहे। "उग्रजी" उन्होंने कहा-"आपकी पुस्तक 'चाकलेट' के बारे में गांधीजी की एक चिट्ठी मैंने दबा ली थी।" आगे लिखते हैं-"इसके पहले 'घासलेट'-आंदोलन-काल में पं० बनारसीदास पर मैं बमक उठता था। इस बार नहीं बिगड़ा, तो उन्होंने समझा कि 'उग्र' मर गया! सो, महात्माजी को मृत मान और 'उग्र' को बेजान जान कर ही, माकूल मौका देख, पत्रकारिता की पेचदार परतों में लपेट कर सन् 51 में उन्होंने 'हिंदुस्तान' के विशेषांक में गांधीजी का वह पत्र छपवा दिया। मेरी मस्त निगाहों में 'हिंदुस्तान' का वह विशेषांक आठ महीने बाद यानी 52 के जून में आया।"

चूंकि गांधीजी के समर्थन से उग्रजी को बड़ा नैतिक बल मिला था इसलिए वह चाहते थे कि 'नया समाज' के विख्यात संपादक मोहन सिंह सेंगर इस लेख को देखें और इस पर टिप्पणी करें। सेंगरजी ने परिस्थिति की गंभीरता महसूस करते हुए उन्हें विश्वास दिलाया कि यदि उग्रजी कुछ लिखेंगे तो वे अपने प्रसिद्ध पत्र में जरूर स्थान देंगे। 'इस पर सेंगरजी की न्याय-बुद्धि से आंखें मिलाकर मैंने पूछा-"मान लीजिए उग्रजी मर गए हैं और बनारसीदासजी का यह कर्म आपके सामने है,-आप क्या करेंगे?"

इसके बाद सेंगरजी पिघल गए और उन्होंने एक टिप्पणी 'एक साहित्यिक अनर्थ' शीर्षक से लिखी जो 'नया समाज' के जुलाई 1952 के अंक में छपी। तीसरे संस्करण की भूमिका (?) में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी को चुनौती दी।

'नया समाज' में सेंगरजी ने टिप्पणी की—'गांधीजी बापू के रूप में', जिसका उप शीर्षक था 'घासलेट का सत्य'— इस लेख में चतुर्वेदी जी ने गांधीजी को एक नोट के साथ 'चाकलेट' भेजने की बात का उल्लेख किया और गांधीजी ने जो पत्र लिखा था, उसे भी उद्धृत किया। उन्होंने इस बात का भी खुलासा किया कि साबरमती यात्रा में बापू ने एक घंटे का समय दिया, जिसमें वे घासलेट साहित्य बापू को सुनाते रहे। चूंकि उन्हें चाकलेट पर बापू की सम्मति पहले ही मिल चुकी थी इसलिए उन्होंने चाकलेट नामक पुस्तक की चर्चा जानबूझकर नहीं की थी क्योंकि सीधे आक्रमण की बजाए घुमा-फिरा कर हमला करना उन्हें ठीक लगा। सेंगरजी ने चतुर्वेदीजी को एक जिम्मेदार और ईमानदार पत्रकार मानते हुए भी एक बड़ा सवाल खड़ा किया—'पर उस आंदोलन के लगभग 20 वर्ष बाद उन्होंने 'चाकलेट' के संबंध में बापूजी का जो पत्र प्रकाशित करवाया है, वह हर चिन्तनशील साहित्यिक के लिए विचारणीय है।' यह तो स्पष्ट ही है कि चतुर्वेदीजी द्वारा चलाया गया घासलेट साहित्य अभियान के केन्द्र में वस्तुतः 'चाकलेट' ही था। सेंगरजी ने बिल्कुल ठीक टिप्पणी की है—'यदि वे इस पुस्तक के बारे में बापूजी से कुछ न पूछते, तो कोई बात ही न थी। पर जब उन्होंने उनके पास पुस्तक भेजी, तो एक जिम्मेदार और ईमानदार पत्रकार की हैसियत से उसके संबंध में बापू का जो मत था, वह भी प्रकाशित करना चाहिए था—भले ही उनके आंदोलन पर इसका चाहे कैसा भी असर क्यों न पड़ता। बापू का मत एक निरपेक्ष समाज—नेता का मत था। पाठक उसे पढ़कर अपना मत स्थिर करने अथवा निर्णय देने में स्वतंत्र थे। किन्तु अपने आंदोलन को सफल बनाने के मोह ने चतुर्वेदीजी को इस पत्र को प्रकाशित न करने के लिए राजी कर लिया और वे इसे इन बीस वर्षों तक दबाए बैठे रहे, यह नम्र से नम्र शब्दों में किसी भी सच्चे और ईमानदार पत्रकार की प्रतिष्ठा, बौद्धिक ईमानदारी और सार्वजनिक दायित्व की दृष्टि से शोभन नहीं कहा जा सकता।' बल्कि चतुर्वेदीजी के व्यवहार से सेंगरजी काफी आहत थे, इसका पता चलता है, ऐसा करके चतुर्वेदीजी ने जाने या अनजाने एक बहुत बड़े साहित्यिक अनर्थ का पाप अपने सिर लिया है। जो 'चाकलेट' उनके आंदोलन का मुख्य आधार थी, उसे पढ़ने के बाद बापू ने आपत्तिजनक नहीं समझा, उन पर उसका बुरा असर नहीं हुआ, लेखक के हेतु को उन्होंने शुद्ध माना और

पुस्तक को 'अमानुषी व्यवहार पर घृणा पैदा करने' वाली बतलाया, यह श्लीलता और नैतिकता के सबसे बड़े, समर्थ एवं समझदार व्यक्ति का सर्टिफिकेट है।' इस टिप्पणी के अंत में वे लिखते हैं, 'उस समय उन्हें शायद यह सोचने की फुर्सत ही न हो कि ऐसा करके वे 'चाकलेट' के लेखक के प्रति कितना बड़ा अन्याय और अक्षम्य अपराध कर रहे हैं। इससे साहित्य की कैसी क्षति हुई, अब केवल सिर्फ कल्पना ही की जा सकती है।'

इस टिप्पणी से पं० बनारसीदास चतुर्वेदी इतने उत्तेजित हुए कि उन्होंने हिंदी (बीच-बीच में अंग्रेजी) में 1952 में 'नया समाज' के संपादक सेंगरजी को आधा दर्जन पत्र सिर्फ जुलाई के महीने में लिखे। बल्कि पांचवां और छठा पत्र तो एक ही दिन यानी 23 जुलाई को लिखा। अपने पहले पत्र में उन्होंने Utmost frankness के साथ निरंतर सत्य बात कहते रहने की ताकीद की लेकिन यह भी निवेदन किया कि 'नया समाज' में संपादकीय टिप्पणी छपने से पूर्व यदि इसकी एडवांस कॉपी उन्हें भेज दी जाती तो साथ-साथ उनका उत्तर भी छप जाता। लेकिन इस बात से वे आहत हुए कि उनके 'अनर्थ' की चर्चा अब कई महीनों तक होती रहेगी। पत्र में चतुर्वेदीजी ने गांधीजी के उस पत्र का उल्लेख किया था जो उनके विरुद्ध था। अपने आंदोलन को दो वर्षों से ज्यादा चलाने को अपनी उपलब्धि मानते हुए इस बात का भी उल्लेख किया कि 'उसकी समाप्ति गोरखपुर साहित्य सम्मेलन के उस प्रस्ताव से हुई जो मेरे पक्ष और 'घासलेट साहित्य' के विपक्ष में था।' कहना न होगा कि चतुर्वेदीजी के पत्र में अपने को निर्दोष साबित करने की भरपूर कोशिश है। उनके तर्क की बुनियाद बहुत कमजोर है फिर भी यह स्पष्ट है कि उन्हें सेंगरजी की टिप्पणी अच्छी नहीं लगी।

दूसरा पत्र, जो अंग्रेजी में लिखा गया है, में फिर पिछले पत्र की बातें दुहराई गई हैं और गांधीजी से मुलाकात के दौरान की गई बातों को तोड़-मरोड़कर पेश करने की कोशिश की गई है। उदाहरण के लिए—'उन्होंने खुद कहा था—' यदि मेरी सम्मति छप जाती, तो ऐसे साहित्य को प्रोत्साहन मिलता।' दरअसल चतुर्वेदीजी अपने बचाव में इस मामले में गांधीजी का सहारा लेते हैं और वह भी उनके द्वारा लिखित पत्र का नहीं बल्कि मौखिक बातचीत का, जिस पर पूर्णतः भरोसा नहीं किया जा सकता। इन पत्रों में चतुर्वेदीजी को इस बात का मलाल है कि घासलेट आंदोलन से संबंधित (मसाला सब टीकमगढ़ में छूट गया है!) यह संकेत है कि वे मामले को और भी आगे बढ़ाते।

यहां एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि 'चाकलेट' पर उठे विवाद पर वे अंतिम फैसला गांधीजी से लेना चाहते थे लेकिन गांधीजी के सकारात्मक निर्णय के बाद वे निरुपाय एवं विवश हो गए थे। अंततः उनकी साबरमती की यात्रा और गांधीजी से मुलाकात के दौरान घासलेट साहित्य पर चर्चा इस बात का प्रमाण है कि वे गांधीजी को अपने पक्ष में करने के लिए अपने भरसक कोशिश कर चुके थे लेकिन गांधीजी को मजबूर न कर पाए। फिर गांधीजी से मुलाकात के प्रसंग को उन्होंने उलझा दिया।

इस तरह यह विवाद खत्म हुआ लेकिन विवाद की अनुगूंज लंबे समय तक हिंदी साहित्य में सुनाई पड़ी। इस बात में किसी की भी दिलचस्पी हो सकती है कि आखिर 'चाकलेट' में ऐसा क्या विस्फोटक था कि चतुर्वेदीजी की नींद उड़ गई और उग्रजी के साहित्यिक व्यक्तित्व को नष्ट करने पर वे आमदा हो उठे। उग्रजी के पहले कहानी संग्रह 'चाकलेट' में आठ कहानियां हैं, जिनके शीर्षक हैं—हे सुकुमार, व्यभिचारी प्यार, जेल में, चाकलेट, पालट, हम फिदाए लखनउ, कमरिया नागन सी बल खाए, चाकलेट चर्चा—संकलित हैं। इन कहानियों के केन्द्र में मुख्यतः खूबसूरत कम उम्र किशोर नवयुवक हैं जिन्हें समाज के तथाकथित धनी वर्ग अपनी वासना या हवस का शिकार बनाता है। और यह सामाजिक व्यभिचार जेल में भी है और जेल के बाहर भी। शीर्ष कहानी 'चाकलेट' के मुख्य पात्र बाबू दिनकर प्रसाद बी०ए० हैं और उनके साथ बैठे वार्तालाप कर रहे हैं मनोहर चंद। शायरी का दौर चल रहा है और दिनकर प्रसाद मनोहर चंद को पहेली बुझा रहे हैं। इसी बीच किसी ने दिनकर बाबू को आवाज लगाई और वे जरूरी काम का बहाना करके चले गए। परदे के पीछे से पुकारने वाला सुंदर बालक दिनकर बाबू का चाकलेट था। एक दिलचस्प उदाहरण देखिए—'मैंने मनोहर से पूछा—

“यह लड़का कौन था? दिनकर के कोई भाई तो नहीं है न ?”

“अजी नहीं। वह दिनकर बाबू का 'चाकलेट' था।”

“चाकलेट ?? चाकलेट क्या ?”

“पाकेट—बुक;”

“जरा समझकर कहो, मजाक छोड़ो! तुम्हारे चाकलेट, और 'पाकेट—बुक' मेरे लिए 'लेटिन' और 'ग्रीक' है।”

“लेटिन और ग्रीक को भी समझ लेना सरल है भाई! पर इन ‘चाकलेटों’ की ‘स्टडी’ बहुत ‘डिफिकल्ट’ है। चाकलेट रोग दिन पर दिन हमारे देश में प्लेग और हैजे से भी अधिक बढ़ रहा है। समाज देखता हुआ अंधा बना है। वह वेश्या-गमन का विरोधी है, विधवा-विवाह के नाम पर भी उसकी आंखें खूनी हो जाती हैं; पर, इसकी चर्चा उसकी जुवान से नहीं होती। क्यों? उसे शर्म मालूम पड़ती है। घर में आग लग गई है पर ‘जेंटिलमैन’ जी मारे शर्म के स्वयं बुझाने को तैयार नहीं!”

इस तरह इस कहानी को अनैतिक और अश्लील कहकर इसकी भर्त्सना की गई जबकि सच्चाई यह है कि इन कहानियों की विषयवस्तु समाज में फैले अप्राकृतिक व्यभिचार की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करती है। वैसे वक्त ने खुद पं० बनारसीदास चतुर्वेदी को कठघरे में खड़ा कर दिया है और उग्र जैसे साहित्यकार को साहित्य के मंच पर स्थापित कर दिया है। खासकर उनकी आत्मकथा ‘अपनी खबर’, ‘चाकलेट’, ‘चंद हसीनों के खतूत’, ‘दिल्ली का दलाल’ और ‘बुधुआ की बेटी’ (उपन्यास) के कारण।

संदर्भ : पुस्तकें एवं पत्र-पत्रिकाएं

- 1-चाकलेट – पाण्डेय बेचन शर्मा ‘उग्र’
- 2-अपनी खबर – पाण्डेय बेचन शर्मा ‘उग्र’
- 3-पाण्डेय बेचन शर्मा ‘उग्र’ – भवदेव पांडे
- 4-मतवाला
- 5-विशाल भारत
- 6-यंग इंडिया
- 7-हिंदुस्तान
- 8-नया समाज

संपर्क

डॉ. साधना अग्रवाल

असिस्टेंट प्रोफेसर (तदर्थ), हिन्दी विभाग

कमला नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

मोबाइल नं. : 9891349058

ई-मेल: agrawalsadhna2000@gmail.com

डॉ. कमला पाण्डेय कृत रक्षतगङ्गाम् महाकाव्य में पर्यावरण

भारतीय संस्कृति में 'स्त्री' आदिशक्ति का प्रतीक है। समाज में नारी के प्रति आदर व सम्मान की भावना रही है। "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।" यह आदर व सम्मान उसने अपने आदर्शों एवं कार्यों से अर्जित किया है। ज्ञान क्षेत्र हो या कर्म क्षेत्र सर्वत्र वह अग्रणी रही है, गार्गी, कात्यायनी, घोषा, अपाला तथा अन्य अनेक ऋषिकाएँ इसका प्रमाण हैं।

आज भी ऐसी बहुत सी विदुषियाँ हैं जो समाज में अपने अनेक उत्तरदायित्वों को निभाते हुए अपने 'ज्ञान' के आलोक से संसार को आलोकित कर रही हैं। संस्कृत के रचना संसार में पण्डिता क्षमा राव, डॉ. पुष्पा दीक्षित, डॉ. शशि तिवारी, डॉ. नलिनी शुक्ला आदि अनगिनत नाम हैं। ऐसी ही एक विदुषी हैं - डॉ. कमला पाण्डेय।

व्यक्तित्व एवं कृतित्व -

डॉ. कमला पाण्डेय का जन्म 2 अप्रैल सन् 1952 में नवरात्र चैत्र अष्टमी को उत्तराखण्ड की पवित्र भूमि कूर्माञ्चल, नैनीताल में हुआ। आपके पिता स्व. नीलाम्बरदत्त फॉरेस्ट ऑफिसर थे। वे अत्यन्त सरल, धार्मिक तथा ईमानदार थे। आपकी माता श्रीमती पञ्चाननी देवी एक कर्मठ, साहसी एवं जुझारू महिला हैं, जो 75 वर्ष की आयु में भी आपके साथ गोमुख दर्शन हेतु गईं। आप स्वयं अविवाहित हैं। "सादा जीवन उच्च विचार" आपको चरितार्थ करते हैं।

शिक्षा -

आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से बी.ए. 'संस्कृत' में तथा सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से साहित्याचार्य की परीक्षा प्रथम श्रेणी में स्वर्ण पदक के साथ उत्तीर्ण की। पारम्परिक शास्त्रीय अध्ययन के लिए आपने पं. काशीनाथ पाण्डेय से व्याकरण शास्त्र तथा पं. विश्वनाथ शास्त्री से प्राचीन एवं नव्य न्याय की शिक्षा ग्रहण की। प्रो. सिद्धेश्वर भट्टाचार्य के निर्देशन में "न्याय वार्त्तिक-परिशुद्धि एक समीक्षात्मक अध्ययन" विषय पर आपने पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। विगत 25 वर्षों से आप वसन्तकन्या विद्यालय में विभागाध्यक्ष के रूप में कार्यरत हैं।

पुरस्कार व सम्मान -

आपके जीवन का उद्देश्य संस्कृत की सेवा रहा है, जिसके लिए आपको अनेक मानक उपाधियाँ तथा सम्मान प्राप्त हुए हैं, जैसे-

1. शिक्षक अलंकरण समारोह में प्रतीक संस्थान, वाराणसी द्वारा “विद्याभूषण सम्मान”।
2. रामनगर वाराणसी सांस्कृतिक मंच द्वारा “रक्षत गङ्गाम्” की रचना हेतु सम्मान।
3. अखिल भारतीय महिला संस्कृत सम्मेलन द्वारा नई दिल्ली में “विद्योत्तमा सम्मान”।
4. मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा आपको संस्कृत वर्षोत्सव के उपलक्ष्य में सम्मानित किया गया।

रचनाएँ -

1. गङ्गा दण्डकम्

इस काव्य में दण्डक वृत्त में गंगा की स्तुति की गई है। संस्कृत टीका तथा हिन्दी अनुवाद सहित इसका प्रकाशन श्रीमाता पब्लिकेशन्स, हनुमान घाट, वाराणसी से 1998 में हुआ था।

2. रक्षत गङ्गाम्

एकादश सर्गों में निबद्ध “रक्षत गङ्गाम्” एक महाकाव्य है। यह चार खण्डों में विभाजित है। सर्वप्रथम पौराणिक एवं आधुनिक मतों का काव्यात्मक निरूपण किया गया है, जिसके अन्तर्गत हिमालय, देवप्रयाग, कर्णपुर, तीर्थराज प्रयाग, गंगासागर आदि का वर्णन है, तत्पश्चात् आध्यात्म वर्णन है तथा अन्त में गंगा में प्रदूषण तथा प्रदूषण का निरूपण किया गया है। इसका प्रकाशन हिन्दी व्याख्या एवं अंग्रेजी अनुवाद के साथ 1999 में हनुमान घाट से हुआ।

3. अन्य रचनाएँ -

कवयित्री की अन्य रचनाएँ हैं-

देववाणी के नए सन्दर्भ लेख-संग्रह तथा ‘गंगा शतकम्’ एवम् ‘नारी’ जो ‘विश्वभाषा’ एवं ज्योतिष वर्ष पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं।

पर्यावरण एवं प्रदूषण -

मानव प्रकृति के सान्निध्य में ही पला-बढ़ा है, अतः उसके संरक्षण एवं संवर्द्धन के प्रति उसे सजग रहना चाहिए तथा अपने पर्यावरण को सुन्दर एवं सुव्यवस्थित बनाने का प्रयास करना चाहिए। पर्यावरण शब्द परि + आ उपसर्ग, वृ धातु से ल्युट् प्रत्यय के योग से निष्पन्न है। पर्यावरण का अर्थ है - 'परितः आवरणम्' अर्थात् चारों ओर से ढका हुआ। प्रकृति ने हमें चारों ओर से आच्छादित किया हुआ है। जीव-जन्तु, प्राणी, जल, वृक्ष, वनस्पति इत्यादि सभी पर्यावरण के अंग हैं।

प्रदूषण -

प्रदूषण शब्द प्र+दूष् + ल्युट् प्रत्यय के योग से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है - दूषित, मलिन अपवित्र अथवा भ्रष्ट करना प्रदूषण अनचाही वस्तुओं के मिलने से होता है, जिससे प्राकृतिक अथवा मानवकृत पर्यावरण पर विपरीत प्रभाव पड़े। वायु, जल अथवा भूमि में किसी भौतिक, रासायनिक अथवा जैविक परिवर्तन जिससे प्राणीमात्र के स्वास्थ्य, सुरक्षा और कल्याण को प्रभावी तौर से हानि पहुँचती हो, प्रदूषण कहते हैं।

'रक्षत गङ्गाम्' में प्रदूषण - कारण एवं निवारण

जल मानव जीवन का आधार है। प्राणवाहिनी, सुरसरिता एवं देवनादी के नाम से प्रसिद्ध पावन गंगा का भारतीय धर्म एवं संस्कृति से अटूट संबंध रहा है। गंगा जन-जन की आस्था का प्रतीक है। डॉ. कमला पाण्डेय जी प्रकृति की गोद में पली-बढ़ी हैं अतः गंगा के साथ उनका आत्मीय संबंध है। लोक-कल्याण की संवाहिका वही गंगा आज प्रदूषित होती जा रही है। गंगा की इसी संकटपूर्ण स्थिति का चिन्तन कवयित्री ने इस महाकाव्य में किया है। वे कहती हैं:

भारते सर्वसौभाग्यसंवर्धकं सुप्रसिद्धं त्रिलोक्यां गुणैरद्भुतैः।

जीवनाऽऽधाररूपं मनस्तृप्तिदं राजते प्रकृष्टं परम्॥ (रक्ष. गं. 10/1)

अर्थात् भारत में सब प्रकार के सौभाग्य को बढ़ाने वाला अपने अद्भुत गुणों से तीनों लोकों में प्रसिद्ध, जीवन का आधारभूत, मन को तृप्ति प्रदान करने वाला, उत्कृष्ट जल है। 'गोमुख' से निकला गंगाजल पाप-ताप-शोक को नष्ट करने वाला, पृष्टि-तृप्ति तथा मुक्ति देने वाला है। अमृत के सहोदर इस जल को स्वार्थ में लगे हुए मानव ने दूषित कर दिया है।

गोमुखान्निर्गतं निर्मलं पावनं पापहं तापहं शोकसंहारकम्।
पुष्टिदं तुष्टिदं भुक्तिदं राजते गाङ्गवारि प्रकृष्टं परम्॥ (रक्ष. गं. 10/2)

जिस जल का आचमन करने से गङ्गा के भक्त स्वर्गलोक को प्राप्त करते थे, वही आज साबुन के झाग, थूक आदि से मिश्रित हो गया है।

दिव्यलोको यदाचम्य मोदान्वितैः प्राप्यतेगाङ्गभक्तैः पवित्रेश्चरम्
फेनिलैः तद्धि निष्ठीवनैर्मिश्रित पीयतां वा कथं हीयतां वा कथम्॥ (रक्ष. गं. 10/6)

आज मूत्र-विष्ठा और कूड़े-कचरे से भरी नालियों का जल भी गंगा को प्रदूषित कर रोगों का कारण बन रहा है।

मूत्रविष्ठा मलानां प्रणाल्याः सदा सम्मिलन्तीह हा! तत्र रोगप्रदाः॥ (रक्ष. गं. 10/9)

आजकल प्लास्टिक का प्रयोग भी बढ़ता जा रहा है, वह भी प्रदूषण का कारण है, क्योंकि उसका विलय शताब्दियों तक भी नहीं होता है।

जीवनेगृह्यमाणाऽधुना भूयशः 'प्लास्टिकेति' प्रसिद्धा नवनिर्मितिः
दूषणोत्पादिकां याऽवसाने नो समीयात् पृथिव्यां शताब्दीमपि॥ (रक्ष. गं. 10)

इसी प्रकार 'सिन्थेटिक' का भी दैनिक प्रयोग आत्मनाश को आमंत्रित कर रहा है। कारखानों के कचरे के रूप में गंगा में इसके केमिकल्स फेंकने से जल का जीवितत्व नष्ट हो रहा है।

यच्च 'सिन्थेटिकेति' समाव्याते नूतनाविष्कृतः तैलरूपोऽशुचिः।
आत्मनाशाय कुर्वन्ति हा! मानवाः तस्य दैनन्दिनं कुप्रयोगं हठात्॥ (रक्ष. गं. 10/12)

प्रदूषण-निवारण -

गंगा को प्रदूषण मुक्त रखने के लिए डॉ. पाण्डे ने सर्वप्रथम पद्मपुराण में बताए गए उपदेश का उल्लेख किया यथा गंगा में शौच, केश धोना, कपड़े धोना इत्यादि क्रियाएँ नहीं करनी चाहिए।

अथ चतुर्दश पाप पावनं त्रिपथगा शुचिरोधरसि वर्ज्यताम्।
स्मरत पद्मपुराण वचांसि भो! विमलवारिमयी क्रियतां पुनः॥ (रक्ष. गं. 11/16)

इसके साथ ही वो कहती हैं कि “बहुशास्त्र विशारद विद्वान् वैज्ञानिकों, यन्त्रविदों, तकनीकी वेत्ताओं को ऐसे नवीन यन्त्रों का निर्माण करना चाहिए, जिससे कूड़े के

ढेर नदी में गिरने की बजाए एक अलग कुण्ड में सञ्चित हों और उसका प्रयोग अन्यत्र किया जा सके।

आज हिमालय से पेड़ों, लताओं आदि को अन्धाधुंध काटा जा रहा है। सुख-समृद्धि का हनन करने वाले इस विनाश को शीघ्र रोकना चाहिए।

**अहह! कर्तित-गुल्म-लता-तरुः प्रतिदिनं क्रियतेऽद्य हिमालयः
वनविनष्टिरहो! अवरुध्यतां सुखसमृद्धिहरी विपदास्पदम्॥ (रक्ष. गं. 11/14)**

‘रक्षत गङ्गाम्’ संस्कृत महाकाव्य (हिन्दी, अंग्रेजी अनुवाद) से प्रेरित होकर काशी के पत्रकारों, कलाकारों, शिक्षाविदों, संगीतकारों आदि ने मिलकर ‘रक्षात गङ्गाम्’ आन्दोलन चलाया, जिसके द्वारा गंगा को स्वच्छ रखने हेतु विभिन्न माध्यमों से अद्भुत जन-जागरण कार्यक्रम किए जा रहे हैं जिनमें जन-जागरण व्याख्यान मालाएँ, विद्यालयों में गोष्ठियाँ, पेंटिंग, प्रदर्शनी आदि के द्वारा आम जनता का ध्यान मलिन गंगा की संपूर्ण स्थिति की ओर आकर्षित किया जा रहा है।

‘विश्व-जल दिवस’ के अवसर पर डॉ. कमला पाण्डेय ने ‘रक्षत गङ्गाम्’ कार्यक्रम में कहा कि - “गंगा को प्रदूषण मुक्त रखने के लिए सरकारी प्रयास के साथ ही जन सहयोग की भी आवश्यकता है।”

अतः डॉ. कमला पाण्डेय जी के इस चिन्तन पर विचार को आत्मसात करते हुए ‘सत्यं शिवं सुन्दरम्’ की संवाहिका, प्राणदायिनी गंगा को निर्मल एवं पावन बनाए रखने में हम सबको अपना योगदान देना चाहिए, जिससे हमारा पर्यावरण संरक्षित एवं सुव्यवस्थित रह सके।

**ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः, शान्तिरेव शान्तिः
सा मा शान्तिरेधि॥ (यजु. 36/17)**

संदर्भ -

1. अग्रवाल, रेखा - संस्कृत साहित्य में कवि समय, नवजीवन पब्लिकेशन्स, नवाई, राजस्थान, 2014
2. दुबे, अर्चना - आधुनिक संस्कृत कवयित्रियाँ, नवजीवन पब्लिकेशन्स, नवाई, राजस्थान, 2006

3. वैस, अरुणा कुमारी - अर्वाचीन संस्कृत साहित्य का काव्यशास्त्रीय अध्ययन, दुर्गा पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2011
4. तंवर, सीमा - आधुनिक संस्कृत महाकाव्य रक्षतगङ्गाम् एक अध्ययन, नवजीवन पब्लिकेशन्स, नवाई, राजस्थान, 2011
5. त्रिवेदी, नीलम - संस्कृत वाङ्मय में राष्ट्रीय एकता एवम् लोक कल्याण की अवधारणा, विकास प्रकाशन, कानपुर, 2013

डॉ. सुषमा चौधरी

असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग

कमला नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

मोबाइल नं. : 9868382884

ई-मेल: sushma.choudhary2@gmail.com

पं. प्रताप नारायण मिश्र का उर्दू के प्रति मोह

सन् 1857 की क्रान्ति से लगभग 10 माह पूर्व पं. प्रताप नारायण मिश्र का जन्म हुआ। प्रत्येक महान साहित्यकार अपने युग से निर्मित होता है। समकालीन परिस्थितियां लेखक को रचना करने की प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रेरणा देती है और यह स्वाभाविक ही है कि उनका अंकन ओर प्रतिफलन उसकी कृतियों से होता है। मिश्र जी को लेखन की प्रेरणा समकालीन परिस्थितियों ने दी और उसका प्रतिफलन उनकी कृतियों में है, उनका साहित्य उनके युग का दर्पण है।

मिश्र जी बड़े ही प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति थे, वह प्रतिभा के धनी थे, एक ही व्यक्ति में इतनी प्रतिभाओं का होना पाठक को आश्चर्य में डाल देता है। कम ही व्यक्ति ऐसे हुए हैं जिनमें एक साथ इतनी प्रतिभाएं हों। मिश्र जी उन्हीं में से एक थे। मिश्र जी ने लगभग साहित्य के हर क्षेत्र में कार्य किया। अपने 12 वर्षों के छोटे से साहित्यिक जीवन में मिश्र जी ने अपनी दिव्य ज्योति से हिन्दी जगत को आलोकित कर इसको गौरवान्वित किया।

साहित्यिक दृष्टि से मिश्र जी की सबसे बड़ी देन निबन्ध विधा का विकास करना है। नाटकों के विकास का श्रेय जहाँ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को जाता है वहीं निबन्ध के विकास का श्रेय प्रताप नारायण मिश्र को है, इनके निबन्धों की श्रेष्ठता को देखकर डॉ. रामचन्द्र शुक्ल इन्हें 'एडीसन' तथा डॉ. श्यामसुन्दर दास 'मौतेन' कहते हैं।

यह भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से बहुत प्रभावित थे ओर उन्हें अपना आदर्श मानते थे। इसी कारण हिन्दी साहित्य जगत में यह 'द्वितीय भारतेन्दु' के नाम से पुकारे जाते हैं। भारतेन्दु की भांति यह कविता में भी निपुण थे, और उन्हीं की भांति उर्दू काव्य से भी इन्हें प्रेम था। हिन्दी के कट्टर हिमायती होते हुए भी यह उर्दू में लिखी प्रेम विषयक कविताओं में कुछ सूफी कवियों का प्रभाव भी परिलक्षित होता है और गज़लों में इनका मनमौजी व्यक्तित्व उभरा है। इनकी 'पर मुँह को छिपा के' नामक गज़ल की कुछ पंक्तियां देखिए -

“लुत्फ अगर मंजूर नहीं तो शोक से सताओ साहब
पर मुँह को छिपा के दीद के लिए न तरसाओ साहब।
तुम्हारे जब हो चुके तो फिर अपने से रहा कुछ काम नहीं
मरजी से तुम्हारी कभी सर फेरें हम वह गुलाम नहीं।”

यद्यपि मिश्र जी ने अपने प्रेमदेव को पुरुष रूप में माना है फिर भी विरह की व्याकुलता शराब का प्रेमनाद के रूप में वर्णन आदि सूफी-कवियों की परम्परा में पहुंचा देता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं-

“मए इश्क तलखों से मुँह जरा न बिचकाओ यारों।
बड़ा मज़ा है जो आँखें मूँद के पी जाओ यारों।
कड़वाहट बदबू बदनामी सिर्फ देखने वाले को।
लेकिन अज़हद लुत्फ बखशे हैं यह मतवाले को।”

मिश्र जी अपने युग में, अपने व्यक्तित्व के निराले व्यक्ति थे, उनके सरस, लोकोपयुक्त और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के ही कारण उनकी कविता हँसती-हँसाती और समझाती हुई चलती है। उर्दू को मिश्र जी ने कविता के लिए उपयुक्त माना है। उर्दू के विषय में वह लिखते हैं - “कविता के लिए उर्दू बुरी नहीं है। वारविलासिनी के कटाक्षों का सा सुख दे रही हैं।” यद्यपि मिश्र जी ने हिन्दी और उर्दू के आन्दोलन को लेकर उर्दू की बड़ी निंदा की, लेकिन फिर भी उन्हें उर्दू से लगाव अवश्य था, उनकी उर्दू में लिखी कविताएँ भाषा आदि की दृष्टि से अत्यन्त प्रौढ़ हैं। यहाँ एक प्रेम विषयक कविता की कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं-

“गरचे यह तर्क की बला है इश्क।
तो भी देता अजब मज़ा है इश्क।।
बुअल हवस को तो खेल-सा है इश्क।
आशिकों के लिए कज़ा है इश्क।।”
‘मुसल्लस’ कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए -
“तुम्हारी ही खुशी में खुश हैं, यहाँ अपनी रज़ा क्या है।
दिलो-जाँ लीजिए इसमें, उजो गिला क्या है।।”

डॉ. चन्द्रिका प्रसाद जी मिश्र जी के सन्दर्भ में लिखते हैं कि “वह उर्दू की भर्त्सना करते थे फिर भी वह उर्दू का मोह छोड़ नहीं पाए और अपने साहित्य में उर्दू को भी स्थान दिया। आइए कुछ गज़लों की पंक्तियों पर और प्रकाश डालते हैं-

“हकीकी यार का शैदा न होगा।
तो वह आशिक तो क्या दीवाना होगा।।
अबस ही शेख जी, बुतखाना होगा।
पैतक काबे में भी बैठा न होगा।।”

“सिवा तेरी सूरत के देखना और तो कुछ भाता ही नहीं।
मेरे प्यारे चैन मुझको तुम बिना आता ही नहीं।।
तेरे दरवाजे की तरफ दिन भर में सौ दफा जाता हूँ।
अपने घर में जो दम भर बैठा तो घबराता हूँ।।”

डॉ. रामविलास शर्मा, मिश्र जी के सन्दर्भ में लिखते हैं - “जो लोग आशिक,
माशूकों की अदाओं के बांकपन में बांके हो गए हैं, या जो कच-कुच-कटाक्ष
कविता में कट मरे हैं उन्हें ये रचनाएँ कविताएँ कहलाने की अधिकारी

भी न जान पड़ेंगी। यदि सहृदयता का अर्थ पीड़ित जन समुदाय के प्रति निर्दयता
नहीं है, यदि रस की सृष्टि केवल मानवता के पतन के लिए नहीं वरन् उसके
विकास के लिए है यदि रस कच-कुच कटाक्षों के वर्णन से उत्पन्न होकर भी
बाह्यानन्द सहोदर नहीं हो जाता वरन् उसकी परिणति, त्याग और सेवा की प्रेरणा
से भी हो सकती है तो ये कृतियाँ भी कविता है और उस कोटि की कविता है
जिसकी टक्कर की कम रचनाएँ उस युग के हिन्दी साहित्य में हैं। किसी की अदा
पे मर जाने में हैं, नामक गजल की कुछ पंक्तियाँ देखिए -

किससे कहिए क्या कहिए जो लुत्फ़ दिल लगाने में है।
मजा जीस्त का, किसी की अदा पे मर जाने में है।।
काम न दीन और दुनिया से न मतलब कुछ घर बार से है।
हर एक तरह का वास्ता अब अपने दिलदार से है।।

मिश्र जी ने अपनी उर्दू कविताओं में इश्क की पूर्ण रूप से व्याख्या की है, जिसे
देख लगता है कि उनके जीवन में भी इश्क ने पैर पसारे हों “मजा निराला है”
नामक कविता की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

कभी हैं जामे ज़हर कभी आबेहयात का प्याला है।
मये इश्क में जमाने भर से मजा निराला है।।
ढंग इसके मस्तों का नहीं कहने सुनने में आता है।
अपनी धुन में कोई रोता है कोई गाता है।।

मिश्र जी ने अपनी उर्दू की कविताओं में प्रेम का जो रूप दर्शाया है वह इश्क में
चोट खाए नाकाम आशिक के व्यक्तित्व से बहुत कुछ मिलता दिखाता है, मिश्र
जी के व्यक्तित्व और उनके कविता सम्बन्धी भावों को देखकर लगता है कि मिश्र

जी अवश्य किसी से प्रेम करते थे तभी तो उनकी उर्दू कविताएँ इतनी श्रेष्ठ बन पड़ी हैं “दिल के हाथो सब लाचारी है” में देखिए -

यह हमने माना कि इश्क में सभी तरह से ख्वारी है,
पर क्या कीजै कि दिल के हाथो सब लाचारी है।
वफ़ादार माशूक कहीं लाखों में एक होगा कोई,
देखे हमने, बेवफा कोई, बेपर्वा कोई।

जहाँ तक व्यक्तित्व का सवाल है मिश्र जी में सारल्य विनोद, स्वाभिमान एवं उदारता का अद्भुत संगम है। उनका सम्पूर्ण साहित्य हिन्दी-हिन्दू हिन्दुस्तान के ममत्व से अनुप्राणित है। वे बड़े, निर्भीक, दूरदर्शी और स्पष्टवादी साहित्यकार थे लोककल्याण की भावना उनकी रग-रग में समाई हुई थी। वह एक ऐसे सृष्टा थे जो समाज की बदलती प्रवृत्तियों को काल विज्ञान के साथ बनाकर एक समन्वित एवं समग्र बिम्ब के रूप में प्रस्तुत करने में सतर्क रहे। उन्होंने सांस्कृतिक चेतना से मंडित उज्ज्वलता से परिपूर्ण इस काल में तत्कालीन जन-जीवन का प्रत्येक पक्ष, यथार्थ तथा मंगलकारी आदर्श को जिस रूप से प्रस्तुत किया वह हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा।

उनकी उर्दू कविताओं पर प्रकाश डालने से लगता है कि वह गंगा-यमुनी विचारधारा के हिमायती थे, तभी तो उर्दू की निंदा करने के पश्चात् भी वह इसका मोह नहीं छोड़ पाए, उनका हिन्दी में रचित सम्पूर्ण साहित्य तो हिन्दी जगत में अद्वितीय है ही पर उर्दू में लिखी उनकी कविताएँ भी श्रेष्ठ हैं जो साहित्य के क्षेत्र में उनकी श्रेष्ठता को दर्शाती है -

दरो दीवार पे हसरत से नज़र करते हैं।
खुश रहो अहले वतन हम तो सफर करते हैं।।

संदर्भ सूची

1. प्रताप नारायण मिश्र रचनावली सं. डॉ. चन्द्रिका प्रसाद शर्मा, प्रथम खण्ड, पृ. 164
2. वही, पृ. 165
3. डॉ. सुरेशचन्द्र शर्मा, पं. नारायण मिश्र, जीवन और साहित्य, पृ. 253
4. प्रताप नारायण मिश्र रचनावली, सं. डॉ. चन्द्रिका प्रसाद शर्मा, पृ. 176
5. वही, पृ. 152

6. वही, पृ. 150
7. वही, पृ. 157
8. डॉ. रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग (तृतीय खण्ड), पृ. 147
9. प्रताप नारायण मिश्र रचनावली, सं. डॉ. चन्द्रिका प्रसाद शर्मा (प्रथम खण्ड), पृ. 163
10. वही, पृ. 168
11. वही, पृ. 160-161
12. प्रताप नारायण मिश्र रचनावली, सं. डॉ. चन्द्रिका प्रसाद शर्मा (चतुर्थ खण्ड), पृ. 164

डॉ. मुहम्मद इसराईल

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग

कमला नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

मोबाइल नं. : 9818696278

ई-मेल: israil786knc@gmail.com

काश्मीर शैवदर्शन में स्पन्द की अवधारणा

सर्वं स्वात्मस्वरूपं मुकुरनगरवत् स्वस्वरूपात् स्वतन्त्र
स्वच्छस्वात्मस्वभित्तौ कलयति धरणीतः शिवन्तं सदा या।
दृग्देवी मन्त्रवीर्यं सततसमुदिता शब्दराश्यात्मपूर्णा
हन्तानन्तस्फुरत्ता जयति जगति सा शांकरी स्पन्दशक्तिः॥

(महामाहेश्वराचार्य क्षेमराज)

शैवमत का अस्तित्व भारत की प्राचीनतम सभ्यता हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की सभ्यता में प्राप्त होता है। 5 हजार वर्ष पुरानी सिन्धु घाटी की सभ्यता के खण्डहरों से उपलब्ध शिवलिंग आज भी भारत के कोने-कोने में पूजा जाता है - इससे शैवमत की जीवन्तता का स्पष्ट पता चलता है। ऋग्वेद में भी शिवपूजा का उल्लेख मिलता है। सबसे प्रथम शैवदर्शन के अस्तित्व का प्रमाण वेद में उपलब्ध ऋचाओं

‘एक एव रुद्रोऽव तस्थे’

इत्यादि के रूप में प्राप्त होता है जिन्हें अद्वैत शैवदर्शन के प्रतिपादक सोमानन्द ने प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। चारों वेदों में शिव के अनेक नाम रुद्र, पशुपति आदि मिलते हैं। उपनिषदों में शैव दार्शनिक सिद्धान्तों के विवरण प्राप्त होते हैं। शैवदर्शन अनेक हैं, जिनमें से कुछ (कालमुख, कापालिक आदि) का साहित्य अनुपलब्ध है। सम्प्रति प्राप्त शैवदर्शन हैं -

1. द्वैत पाशुपत
2. द्वैत शैवदर्शन
3. लकुलीश पाशुपतभेदाभेदवाद
4. शैवविशिष्टाद्वैत
5. विशेषाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैत या वीरशैवसिद्धान्त
6. नन्दीकेश्वर स्वातन्त्र्यवाद
7. रसेश्वर सिद्धान्त
8. काश्मीरी अद्वैतशैवदर्शन

इन सब शैव दर्शनों का आधार शैवागम है। अभिनवगुप्तादि शैव दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत शैवागमों की संख्या 92 है जो तीन प्रकार के शैव दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं -

- (i) द्वैतसिद्धान्त (10)
- (ii) द्वैताद्वैतसिद्धान्त (18)
- (iii) अद्वैतसिद्धान्त (64)

शैवादि (10) द्वैत तथा (18) द्वैताद्वैत शैवागम द्वैतशैवसिद्धान्त के आधार माने गए हैं। यह सिद्धान्त काश्मीर, मध्य भारत, गुजरात तथा दक्षिण भारत में प्रचलित था।

लकुलीश पाशुपत भेदाभेदमत - इस पाशुपत सिद्धान्त के अनुयायी गौतम और कणाद थे। दोनों ने ईश्वर को उपादान कारण से भिन्न निमित्त कारण मात्र माना है। पाशुपतदर्शन द्वैत का प्रतिपादक है पर लकुलीश पाशुपत द्वैताद्वैत या भेदाभेद का प्रतिपादन करता है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक लकुलीश (द्वि. श. का प्रथम भाग) हैं।

शैवविशिष्टाद्वैत - इस मत के प्रतिपादक श्रीकण्ठ हैं जो रामानुज के समकालीन तथा उनसे कुछ ज्येष्ठ थे। श्रीकण्ठ ने शैवदृष्टि से ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखकर और रामानुज ने वैष्णव दृष्टि से भाष्य लिखकर यह सिद्ध किया कि वेद, उपनिषद तथा शैवागम विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। दोनों ही शैव और वैष्णव - विशिष्टाद्वैत मतों का उत्थान भेदाभेदवाद के उपरान्त हुआ है। वैष्णव विशिष्टाद्वैत उत्थान के पहले रामानुज के गुरु यादवप्रकाश तथा भास्करराय ने भेदाभेद का प्रतिपादन किया था और शैव विशिष्टाद्वैत के पहले आचार्य लकुलीश ने शैवभेदाभेद का प्रतिपादन किया था। श्रीकण्ठ भेदाभेद का विरोध करते हैं।

काश्मीरी अद्वैतदर्शन - प्राचीन काल में काश्मीर में मालिनीविजय, स्वच्छन्दता, नेत्रतन्त्र, विज्ञानभैरव आदि अनेक शैवागम प्रचलित थे। परवर्ती अद्वैतवादी आचार्यों ने इन ग्रंथों को ही अपने अद्वैत मत की स्थापना हेतु उपजीव्य माना।² अद्वैत शैवदर्शन का उत्थान 9वीं शताब्दी में काश्मीर में हुआ। जनश्रुति के अनुसार, भगवान शिव ने वसुगुप्त (825-850 ई.) को स्वप्न में दर्शन देकर बताया कि शिवसूत्र महादेवगिरि पर एक महती शिलाखण्ड (शिवोपल) पर अंकित है, इनका

उद्धार करो। वसुगुप्त ने शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण 77 सूत्र प्राप्त कर उनका प्रचार किया। वे 77 सूत्र ही त्रिक दर्शन के मूलाधार हैं। इन्होंने पूर्व प्रचलित शैव अद्वैतवाद को नया स्वरूप प्रदान कर बौद्धों के अद्वैत शैव मत पर आक्षेप का निराकरण किया। इनके द्वारा प्रचारित शाखा - स्पन्दशाखा कहलाई। इस शाखा के प्रतिपादक ग्रंथ हैं -

**वसुगुप्तकृत 'स्पन्दकारिका',
कल्लटकृत -स्पन्दसर्वस्व' तथा 'तत्त्वार्थचिन्तामणि'।**

दूसरी शाखा के प्रवर्तक श्रीसोमानंद (840 ई.) थे। यह शाखा 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसे स्वातंत्र्यवाद³, आभासवाद⁴, काश्मीरी शिवाद्वैत शिवाद्वयवाद भी कहा जाता है।

नवीं शताब्दी से 18वीं शताब्दी तक इसका प्रतिपादन मुख्यतया कश्मीरी लेखकों ने ही किया था।⁵

प्रारंभ में शैवदर्शन अथवा शैवमत की दो शाखाएँ थीं -

1. उत्तर भारतीय काश्मीर शैवमत, और
2. दक्षिण भारतीय लिंगायत अथवा वीर शैव।

आनन्दकुमार स्वामी के अनुसार बसव ने 1160 ई. में वीरशैवमत की स्थापना कर्नाटक में की थी जो कर्नाटक के अतिरिक्त आन्ध्र और महाराष्ट्र के कुछ भू-भागों तक फैला हुआ है।

परवर्ती काल में शिव की सहचरी शक्ति (उमा) को इसके साथ जोड़ दिया गया। कापालिक, कालामुख इसके उपवर्गों में परिगणित हुए। शक्ति के बिना शिव शवमात्र है। कालान्तर में शक्तिसिद्धान्त बंगाल, असम, उड़ीसा इत्यादि क्षेत्रों में विकसित हुआ।

लिंगायत वीर शैवमत में चेतना के स्पष्ट रूप पर काश्मीर शैवदर्शन के समान ध्यान नहीं दिया गया। इस मत में तीन सत्ताओं का विवेचन किया गया है - 1. पशु (जीवात्मा), 2. पाश (बंधन) और 3. पति (ईश्वर)। आचार्य शंकर जो स्वयं शैव थे⁶, ने इस मत के पाँच सिद्धान्तों का उल्लेख किया है -

- (i) कार्यप्रधान से उत्पन्न महत् आदि
- (ii) कारण ईश्वर या महेश्वर
- (iii) प्रधान योग
- (iv) ओम का जप
- (v) ध्यान तथा समाधि।

विधि - सुबह, दोपहर और शाम - भस्मलेपन एवं गूढचर्या तथा अन्तिम दुःखान्त मोक्ष।

अपनी अपार जनप्रियता के कारण यह मत अपने प्रारंभ से ही सामान्य जनता और बुद्धिजीवियों को अपनी ओर आकर्षित करता रहा है।

दर्शन का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है⁷ -

भगवान् शिव ने अपने पञ्चमुखों से उत्पन्न शैवागमों की द्वैतपरक व्याख्या देखकर अद्वैतसिद्धान्त के प्रचार हेतु अपने शिष्य दुर्वासा को आदेश दिया। दुर्वासा ने त्र्यम्बक, आमर्दक एवं श्रीनाथ नामक मानस पुत्रों को जन्म देकर क्रमशः अद्वैतमत, द्वैतमत तथा द्वैताद्वैतमत का उपदेश किया।

त्र्यम्बक प्रचारित दर्शन ही त्रैयम्बक दर्शन है जो अद्वैतवादी दृष्टि से ओतप्रोत है। त्रैयम्बक दर्शन अथवा त्रिकदर्शन के अंतर्गत प्रत्यभिज्ञा, स्पन्द एवं क्रम आते हैं। यहाँ 'स्पन्द', 'स्पन्दशास्त्र' विवेच्य है।

स्पन्द चैतन्य के विकास की अनन्तयात्रा है। यह अनन्त की आत्मगवेषणा है - अपने स्वस्वरूप के दर्शन की उत्कण्ठा है। यह अपने 'मैं' की खोज है जो सृष्टि के अन्तर्गर्भित रहस्य का निगूढतम तत्त्व है।

स्पन्द परमशिव का अहं प्रत्यवमर्श है - प्रकाश का विमर्श के दर्पण में आत्मावलोकन है - सिसृक्षा का आन्तर तरंग अन्तः संकल्प है। यह विश्वोत्तीर्ण परम शिव का विश्वात्मक स्वरूप में अपने अहं का साक्षात्कार है, शिव की आत्मशक्ति है। इसी स्पन्दात्मक 'मैं' से निस्पन्द भी स्पन्दायमान है।

सृष्टि और प्रलय कोई आकस्मिक घटनाएँ नहीं हैं बल्कि त्रिकालाबाधित आत्मधर्म जो निरन्तर चलती रहती हैं - यही स्पन्द का स्वभाव है, परम शिव का

आत्मधर्म है। शिव नर्तक है ओर जगत् नाट्य है। माया सत्, असत् आदि से परे कोई अनिर्वचनीय तत्त्व नहीं है, जो कुछ भी है वह शिव की स्वातंत्र्यशक्ति की एक अवस्था है।

स्पन्ददर्शन 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' में निहित सर्वब्रह्ममय तत्त्व को तो मानता है किंतु इसमें निहित 'इदं सर्व' को शंकराचार्य की भांति मिथ्या नहीं मानता। इसकी दृष्टि में अद्वयत्व के लिए द्वयत्व का सामरसत्व आवश्यक है, मिथ्यात्व नहीं। बंधन और मुक्ति अनन्त की आत्म गोपनात्मक क्रीड़ा की एक अवस्था है, मनोविनोद हेतु एक स्वकल्पित अभिनय है।

स्पन्दशास्त्र का मूल ग्रंथ वसुगुप्त कृत 'स्पन्दकारिका' ही है जिस पर कालान्तर में अनेक वृत्ति एवं व्याख्याएं लिखी गईं; यथा -

कल्लटरचित स्पन्दकारिकावृत्ति,
क्षेमराजकृत 'स्पन्दनिर्णय' एवं 'स्पन्दसन्दोह',
उत्पलवैष्णवरचित 'स्पन्दप्रदीपिका',
रामकण्ठरचित 'स्पन्दकारिकावृत्ति' इत्यादि।

स्पन्दशास्त्र आत्मसाक्षात्कार एवं आत्मोपासना की अन्तर्यात्रा है। यह उपनिषदों के उस चरम सत्य का दिव्य संदेश है जिसमें ऋषि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा था-

“आत्मा वा अरे द्रष्टव्यो श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो
वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।”

यह श्रौत एवं शब्द ब्रह्मात्मक सत्य की अनुभूति का दिव्य संदेश है -

‘ओमित्येकाक्षरमिदं सर्वम्। तस्यो व्याख्यानं भूतं
भवद्भविष्यति सर्वमोंकार एव।’

उपनिषदों में आत्मा का ॐ के रूप में ध्यान करने को कहा गया है -

ओमित्यात्मानं युञ्जीत^१
ओंकार एवेदं सर्वम्^२

स्पन्दशास्त्र में कहा गया है - 'आत्मा का स्पन्द के रूप में ध्यान करो, क्योंकि स्पन्द ही सब कुछ है।'

स्पन्ददर्शन में आत्मा की शक्ति स्वरूपात्मक कल्पना है। यह आत्मा को ही शक्ति और शक्ति को ही आत्मा मानता है। इसके अनुसार चैतन्य से ही जड़ जगत् (पदार्थ जगत्) विकसित हुआ है जो विज्ञान के मत के विपरीत है। यह कहता है - तुम स्वयं ही परमात्मा हो, अतः परमात्मा को पाने की चिंता न कर स्वयं को पाने की चिंता करो।

परमात्मा, जगत् और जीवात्मा तीनों की एकात्मता या अभेदता ही अद्वैत है वही परम सत्य, परमज्ञान, परामुक्ति, जीवन्मुक्ति है -

‘इति वा यस्य संवितिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत्।

स पश्यन् सर्वतो युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः॥

(स्पन्दकारिका)

जगत् शिव की स्वरूपगोपनात्मिका क्रीडा है -

‘माया नाम शक्तिः शिवस्य शक्तिमतोऽव्यतिरेकिनी स्वरूपगोपनात्मिकाक्रीडा।

(उत्पलदेवाचार्य)

स्पन्दशास्त्र में ज्ञान का पारमित्य अपरिमितत्व ज्ञान है, अपने को भूल जाना सबसे बड़ा अज्ञान है। इसमें दो की सत्ता ही एकरसता का आदर्श रूप है और द्वयात्मकता का सामरस्य अद्वैतवाद का आदर्शस्वरूप है।

स्पन्दशक्ति का स्व स्वरूप है - **पूर्ण अहंमर्शा**। स्पन्दशास्त्र वह चरम अनुभूति है जो इस चरम सत्य को उद्घाटित करती है कि इस तथाकथित जड़-चेतनात्मक जगत् में ‘जड़’ कोई है ही नहीं, सर्वत्र चैतन्य का ही विराट् प्रसार सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में केवल चैतन्य का ही उल्लास है। ऐसी कोई अवस्था ही नहीं है जो शिव न हो-

‘न सावस्था न यः शिवः’।

यह त्रिकदर्शन का साधनात्मक पक्ष है जिसमें सर्वात्मवाद, सर्वचिन्मयवाद, द्वयात्मक, अद्वयवाद (ईश्वराद्वयवाद), सामरस्य पूर्णाहन्ता, जीवन्मुक्ति, आणवोपाय - शाक्तोपाय - शाम्भवोपाय ज्ञान-भक्ति-योग सामंजस्यवाद, स्पन्दवाद (सर्वशक्तिवाद), अवभासवाद एवं स्वातन्त्र्यवाद आदि दृष्टियों की स्थापना की गई है।

स्पन्ददर्शन स्व की जिज्ञासा एवं उसके साक्षात्कार की एक प्रयोगात्मक पद्धति का नाम है। यह शक्ति के उद्घाटन की प्रक्रिया है, आत्मशोध की प्रणाली है।

संदर्भ ग्रन्थः

1. ऋग्वेद 7/22
2. द्रष्टव्यः- शैवदर्शन एवं स्पन्दशास्त्र : डॉ. श्यामाकान्त द्विवेदी आनंद, दो शब्द, पृ. 7
3. यह स्वतंत्र इच्छा को संसार का मूल कारण मानता है इसलिए स्वातन्त्र्यवाद कहा जाता है।
4. यह अनुभव जगत को परम प्रकाश स्वरूप महेश्वर का एक परिमित प्रकाश (आभास) मानता है जो कि उसकी स्वतंत्र इच्छा से अभिव्यक्त होता है इसलिए 'आभासवाद' कहा जाता है।
5. द्रष्टव्य : भारतीय दर्शन, प्रो. सुरेन्द्र सिंह नेगी, पृष्ठ 390-391
6. न्यायवैशेषिक मत के टीकाकार प्रशस्तपाद और उद्योतकर, आचार्य अभिनवगुप्त और जनश्रुति के अनुसार शंकराचार्य शैव थे। द्रष्टव्य - भारतीय दर्शन: प्रो. सुरेन्द्र सिंह नेगी, भूमिका पृष्ठ - 23
7. द्रष्टव्य - शैवदर्शन एवं स्पन्दशास्त्र : डॉ. श्यामाकान्त द्विवेदी आनंद, पृ. 7
8. मैत्र्युपनिषद् 06/3
9. छान्दोग्योपनिषद् 2/23

डॉ. मैत्रेयी कुमारी

असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग

कमला नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

मोबाइल नं. : 9811562307

ई-मेल: mkkumari51@yahoo.com

भारत में महिला श्रमिकों से जुड़े कानून और वर्तमान स्थिति

भारत में महिलायें समाज में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से अपना योगदान देती आ रही है चाहे वह प्राचीन काल हो या आधुनिक काल। वह माँ, बहन, बेटा और पत्नी के रूप में पुरुष प्रधान समाज में परोक्ष रूप से अपनी सेवायें दिये जा रही हैं। ये सेवायें ग्रहणी के रूप में हैं तो कहीं शहरी कामकाजी महिला के रूप में हैं, जो घर के संतुलन को बनाए हुए हैं। आधुनिक नारी पुरुष के साथ कंधे से कंधा मिला कर देश की अर्थव्यवस्था में सक्रिय योगदान दे रही है तो दूसरी ओर गाँव से गाँव और गाँव से शहर की ओर पलायन करने वाली महिलाओं का योगदान भी कुछ कम नहीं है लेकिन यथार्थ के साथ इसे स्वीकारा नहीं गया है। ग्रामीण क्षेत्रों में भूमिहीन श्रमिकों को काम न मिलने और अत्यधिक गरीबी इनके गाँव से शहर की ओर प्रवास का कारण बनती है। शिक्षा और कार्य कुशलता न होने के कारण ये प्रवासित महिलायें शहरों में घरों में काम करने को तैयार हो जाती हैं। जहाँ एक ओर शहरों में एकल परिवारों और नौकरी करने वाली महिलाओं की संख्या में भी तेज़ी से वृद्धि हुई है तो वहीं घरेलू कामगारों, विशेषकर महिलाओं की मांग में भी वृद्धि देखी गई है। भारत में घरेलू कामगार महिलाओं को तीन भागों में बांटा जा सकता है, प्रथम जो अनेक घरों में कार्य करती हैं, द्वितीय जो केवल एक ही घर में सीमित समय के लिए कार्य करती हैं (अंशकालिक) और तीसरी जो एक ही घर में पूर्णकालिक कार्य करती हैं।

पूर्णकालिक महिलाएं अधिकतर पुराने समय में घरों में काम करने वाली होती थी जिस कारण इनका एक ही परिवार के साथ जुड़े होने से सामाजिक व मनोवैज्ञानिक जुड़ाव भी हो जाता था। आधुनिक समय में यह अब अनेक घरों में कार्य करती हैं जिस कारण ये अपने आवास के आसपास ही काम ढूँढती हैं। कार्यस्थल एवं निवास के मध्य कम से कम दूरी को प्राथमिकता देती हैं। बड़े शहरों में मध्यमवर्गीय बस्तियों के आसपास झुग्गी-झोपड़ियों के बसने का यह एक मुख्य कारण भी है। इन्हें वहाँ से हटाकर नई जगह बसाने का प्रयास किया जाता है जिस कारण बस्तियां कार्यस्थल से काफी दूर हो जाती हैं और इन्हे अपने कार्यस्थल पर पैदल ही कई किलोमीटर तक चलकर जाना पड़ता है।

महिलाओं की स्थिति विश्व एवं राष्ट्रीय स्तर पर

वर्तमान के संदर्भ में देखे तो महिला श्रमिक एक वैश्विक घटना का हिस्सा है जो की जाति, धर्म, राष्ट्रियता और लिंग पर आधारित क्रम हो गया है। घरेलु कामगार की बढ़ती संख्या के मुख्य कारणों में प्रवास भी है चाहे वह अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हो या राष्ट्रीय स्तर पर। यूरोप, खाड़ी देश और मध्य पूर्व में महिलाओं के घरेलु कामगार के रूप में अधिक संख्या में प्रवास हुआ है। वर्ल्ड इम्प्लॉइमेंट रिपोर्ट 2004 के अनुसार 2.8 अरब में से 1.1 अरब महिलायें थी जो की 40% की भागीदारी के साथ पिछले दशक के मुकाबले 20 करोड़ महिलाओं की बढ़ोतरी को दर्शाता है। इन सबके बावजूद महिलायें आज भी पुरुषों की तुलना में रोजगार की दर में काफी पीछे हैं। महिलाओं को पुरुषों के मुकाबले कम मजदूरी मिलती है और विश्व के 55 करोड़ करीब मजदूर में से 60% को महिलायें ही प्रस्तुत करती हैं।

विश्व में 8.65 करोड़ महिलाएं, "एम्पॉवरिंग द थर्ड बिलियन विमेन एंड द वर्ल्ड ऑव वर्क इन 2012" की रिपोर्ट के अनुसार, अर्थव्यवस्था से बाहर हैं जिसमें 94% विकासशील देशों में और 6% विकसित देशों में से है। विश्व में आबादी के अनुसार दूसरे स्थान वाले भारत का वैश्विक टैलेंट-पूल में 14% का योगदान है। हर साल भारतीय कार्यबल में 55 लाख महिलायें शामिल होती हैं तो वहीं प्रत्येक वर्ष "ऑनर कीलिंग" के नाम पर लगभग 1,000 महिलाओं की मौत हो जाती है। रिपोर्ट के अनुसार अर्थव्यवस्था के बाहर खड़ी महिलाओं के हाथ मजबूत करने में भारत का 128 देशों में 115 वां स्थान है जबकि पड़ोसी देश चीन बेहतर स्थिति के साथ 58वें स्थान पर है।

विश्व के 48 देशों में विधान है कि महिलायें सभी उद्योगों में काम नहीं कर सकती। विकासशील देशों में एक तिहाई महिलायें जो की 20-24 साल के मध्य है की शादी 18 साल की उम्र में कर दी गई। वैश्विक स्तर पर देखें तो जजों की कुल संख्या में महिलाओं की भागीदारी 27% है। मध्य और पूर्वी यूरोप के देशों में न्यायपालिका में महिला जजों की संख्या लगभग 50% है लेकिन दक्षिण एशिया में इस दिशा में प्रगति निराशाजनक है। अकेले भारत में ही सर्वोच्च न्यायालय में 31 जजों में से केवल 2 ही महिला जज हैं। वर्ष 2001 की जनगणना के अनुसार भारत में कुल श्रमशक्ति की तादाद 40 करोड़ है जिसमें 68.37% पुरुष और 31.63% महिला कामगार हैं। भारत का कृषि

क्षेत्र लैंगिक भेदभाव से भरा हुआ है। लगभग 75.38% महिला श्रमशक्ति कृषि के कामों में संलग्न है। खाद्यान्न के उत्पादन में जितनी श्रमशक्ति लगती है उसका 33% महिला श्रमशक्ति है। ग्रामीण इलाके में दिहाड़ी पर काम करने वाली महिला को पुरुष की कमाई की तुलना में महज 70% ही मिल पाता है। इसके अतिरिक्त स्थान, शिक्षा, हैसियत और उम्र के हिसाब से भी कमाई में अंतर देखा गया है। कामगार महिलाओं और बच्चों का एक बहुत बड़ा हिस्सा देश के कई बड़े शहरों में रहता है। अकेले मुंबई शहर में 6 लाख से अधिक घरेलु कामगार हैं जिनमें से 80 हजार पूर्णकालिक रोजगार में आते हैं। बेंगलूर में 5 लाख से अधिक घरेलु कामगार हैं इनमें 25% वो लड़कियां हैं जिनकी आयु 10-16 वर्ष है। ये लड़कियां स्कूल नहीं जाती हैं बल्कि अपनी माँ के साथ काम पर जाती हैं।

कार्य स्थल की दशायें और मजदूरी के प्रावधान:

घरेलु कामगार के लिए अशिक्षित या अकुशल होना काम के ना मिलने में बाधा नहीं है। ऐसा होने पर भी कामगार महिलाओं की इस क्षेत्र में भरपाई हो रही है। भारत में कामगार महिलायें नियुक्ता के घर में रहकर या रोज़ निश्चित समय पर काम करने जाती हैं। इनमें अधिकतर संख्या ऐसी महिलाओं की है जो अपने परिवार के साथ रहती हैं और रोज़ एक या एक से अधिक घरों में काम करके अपना और अपने परिवार का पालन पोषण कर रही हैं। ये सुबह से शाम तक एक घर से दूसरे घर में काम करती हैं जिनमें साफ-सफाई, खाना बनाना, कपड़े धोना आदि कार्य शामिल हैं। इनमें से कुछ केवल खाना बनाने का ही काम करती हैं। कार्य परिवार में उपस्थित सदस्यों के आधार पर होता है। इस कार्य क्षेत्र में इन्हे कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है जैसे उचित मजदूरी ना मिलना, काम करने की जगह का ठीक न होना, किसी भी प्रकार की छुट्टी का प्रावधान न होना, कार्यस्थल पर हिंसा, गाली-गलौच, यौन शोषण का भय बना रहना, सामाजिक सुरक्षा के लाभ ना मिलना और प्लेसमेंट एजेंसियों द्वारा शोषण होना इत्यादि। इन सबके अतिरिक्त श्रमिकों के लिए बने कानूनों में घरेलु श्रमिक निम्नलिखित विधेयक की परिधि में भी नहीं आते हैं।

1948: फैक्टरी अधिनियम, 1936: कामगार मुआवजा अधिनियम, 1942: साप्ताहिक छुट्टी अधिनियम, 1948: न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, 1961: मातृत्व लाभ

अधिनियम, 1963: व्यक्तिगत चोट मुआवजा अधिनियम, 1978: ग्रेच्युटी अधिनियम

कामगार महिला श्रमिकों द्वारा समस्याओं का सामना:

गत वर्षों में महिला श्रमिकों को कार्य दिलाने के नाम पर अनेक प्लेसमेंट ऐजेंसियाँ स्थापित हो गई हैं जिनमें इनका शोषण होने की बात सामने आई है। युवा लड़कियों को अच्छे वर से शादी कराने का झांसा देकर लाया जाता है और आवास से काफी दूर शहरों में घरेलुकार्य करने के लिए बाध्य किया जाता है तथा शारीरिक शोषण तक किया जाता है। इन्हें शोषण से बचाने के लिए राज्य सरकारों ने कोई ठोस कदम नहीं उठाए हैं। कामगार महिलाओं की बढ़ती संख्या, कार्य की विविधता, कार्य लेने वालों की विशाल संख्या के कारण इन्हें कानूनी सुरक्षा प्रदान करना आज की परिस्थितियों में अत्यंत आवश्यक हो गया है। हमारे श्रम कानूनों में वैसे भी महिला कामगारों की उपेक्षा ही होती रही है। यही कारण है कि न्यूनतम मजदूरी, कार्य के घंटे, व्यावसायिक खतरों में सुरक्षा आदि के बारे में जो भी कानून बने हैं उनमें इन कामगार महिलाओं की उपेक्षा ही की गई है। अधिकतर कामगार महिलायें इन बड़े शहरों में झुग्गी-झोपड़ियों में रहती हैं। इन लोगों को अपनी झोपड़ियों पर बुलडोज़र चलने और शहर के किसी दूर कोने में पुनर्वास होने पर, काम और घर खोने का हमेशा डर बना रहता है।

अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय स्तर पर उठाए गए कदम:

श्रमिक महिलाओं की वकालत करने वाले और कई आयोजक वर्षों से कामगार महिलाओं के अधिकारों की रक्षा के लिए प्रयासरत हैं जिनके विधि के रूप में लागू कराने के लिए कई प्रयास किए गए हैं। जो इस प्रकार हैं:

1948: राष्ट्रीय न्यूनतम मजदूरी अधिनियम में घरेलु श्रमिकों को बाहर रखा गया।

1959: घरेलु कामगार (सेवा शर्त) विधेयक और अखिल भारतीय घरेलु कामगार विधेयक,

1972 और 1977: घरेलु कामगार (सेवा शर्त) विधेयक,

1989: हाउस वर्कर्स (सेवा शर्त) विधेयक,

2004: इन वर्षों (1959,1972,1977 और 1989) के घरेलु श्रमिक के विभिन्न संस्करण (सेवा शर्त) विधेयक के रूप में लिखे गए।

2006: बाल श्रम निषेध और विनियमन अधिनियम-1986, जो की 2006 में संशोधित हुआ, बच्चों को घरेलु श्रमिकों के रूप में प्रतिबंधित करता है।

2008 में "असंगठित श्रमिक सामाजिक सुरक्षा अधिनियम" केंद्र द्वारा अधिनियमित है, परिणाम स्वरूप "राष्ट्रीय सामाजिक सुरक्षा बोर्ड" सामाजिक सुरक्षा का विस्तार करते हुए इसमें घरेलु श्रमिक को भी सम्मिलित किया है। इन नीतियों को ढांचे का रूप देने के लिए एक टास्क फोर्स भी बनायी गयी। जिसका मुख्य उद्देश्य घरेलु कामगार की न्यूनतम मध्दूरी, छुट्टियों, नियमित काम के घंटे स्थापित करना तथा मालिक द्वारा वित्तीय और यौन शोषण को रोकना था।

2008: घरेलु श्रमिक (रोजगार का विनियमन, कार्य की शर्तें, सामाजिक सुरक्षा और कल्याण) बिल का मुख्य उद्देश्य सभी घरेलु श्रमिकों, जिनमें अंशकालिक और पूर्णकालिक श्रमिक भी सम्मिलित है, को अनिवार्य पंजीकरण स्थापित करना है। इसका दूसरा उद्देश्य घरेलु श्रमिकों के लिए कल्याण निधि को सुनिश्चित करना और प्लेसमेंट एजेंसियों का पंजीकरण और इसका उल्लंघन करने वालों को जुर्माना और कारावास से था। यह विधेयक पास होने में विफल रहा।

2010: "राष्ट्रीय सामाजिक सुरक्षा बोर्ड" की टास्क फोर्स ने सिफारिश की है कि राज्य सरकारों को "दुकान और प्रतिष्ठान अधिनियम" के तहत प्लेसमेंट एजेंसियों को रजिस्टर करने के लिए कदम उठाने चाहिए। बोर्ड ने यह भी सिफारिश की कि राज्य सरकारें घरेलु कामगार को 1948 के न्यूनतम मजदूरी अधिनियम के तहत शामिल करें।

2011: अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने अपने 100वें वार्षिक सम्मेलन में घरेलु श्रमिकों के लिए मानक निर्धारित किये। भारत और संयुक्त अरब अमीरात सहित उन सभी देशों के प्रतिनिधियों ने जहां कई भारतीय महिलाओं को घरेलु श्रमिक के रूप में काम करना पड़ता है इस घरेलु कामगार (2011) की कन्वेंशन को अपनाया।

23 जून 2011: केंद्रीय मंत्रिमंडल ने राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना को विस्तारित करते हुए इसमें घरेलु श्रमिकों को सम्मिलित करने की घोषणा की।

श्रमिक महिलाओं की वर्तमान स्थिति:

आई० एल० ओ० के अनुमान के अनुसार 2010 में विश्व में कामगार श्रमिकों की कुल संख्या 5.26 करोड़ (विश्व के कुल श्रमिकों का 3.6%) है जिसमें 4.36 करोड़ महिलाएँ हैं जो की 83% को प्रदर्शित करती हैं। ये 4.36 करोड़ महिलाएँ विश्व की कुल महिला श्रमिक रोजगार का 7.5% हैं। अकेले एशिया महाद्वीप में इन 5.26 करोड़ कामगार का 41% निवास करता है। 1981 के बाद से घरेलु कामगार महिलाओं की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई है। भारत के महापंजीयक के अनुसार 1981 में कामकाजी महिलाओं की हिस्सेदारी 19.67% थी, जो कि 2001 की जनगणना में 25.68% दर्ज की गई। महत्वपूर्ण बात यह है कि इस बदलाव में शहरों की 11.55% के मुकाबले ग्रामीण क्षेत्रों ने 30.98%, यानी तीन गुना बढ़ोत्तरी हुई। यद्यपि ग्रामीण और शहर के व्यवसाय का रूप भिन्न था, लेकिन इसने कार्यक्षेत्र को लेकर महिलाओं में जागरूकता की नई चेतना पैदा हुई। साल 2003 के एक सर्वेक्षण के मुताबिक लगभग 18.4 : औरतें संगठित क्षेत्र में थीं यानी कुल 49.69 लाख महिलायें सार्वजनिक और निजी क्षेत्र में सेवाएँ दे रही थीं।

आई० एल० ओ० की एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में घरेलु कामगार की संख्या को लेकर विरोधाभास है, एक तरफ जहाँ 25 लाख की बात कही जा रही तो वहीं गैर सरकारी आकड़ों में यह 9 करोड़ की भी बात करता है। 2004-05 के ILO और NSSO के अनुसार 40.8 करोड़ श्रमिकों में से 42 लाख के लगभग घरेलु श्रमिक थे जो की कुल श्रमिक का 1% दर्शाते हैं। इन 40.8 करोड़ में, 13.5 करोड़ महिलाएँ और 27.2 करोड़ पुरुष श्रमिक हैं तो वहीं 42 लाख कुल कामगार में से 29.5 लाख महिलाएँ और 12.5 लाख पुरुष कामगार हैं। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण वर्ष 2009-10 के अनुमान के अनुसार 25.2 लाख श्रमिक घरेलु काम में मुख्य रूप से लगे हुए थे, यह संख्या वर्ष 1999-2000 में 16.2 लाख थी, पिछले एक दशक में यह 150 प्रतिशत से अधिक की वृद्धि थी। वर्ष 2009-10 में कुल घरेलु श्रमिक का दो-तिहाई भाग शहरों में रहता था जिनमें 57% महिलायें थी। अन्य देशों की तुलना में भारत में इस तरह के रोजगार में महिलाओं की भागीदारी कम है। भारत के शहर के

संदर्भ में, 2000 के दशक से कुल घरेलु कामगार में 75% की वृद्धि केवल महिलाओं के द्वारा आँकी गयी है। वर्तमान में, घरेलु श्रमिकों के लगभग सभी श्रम कानून से असुरक्षित हैं। यद्यपि हाल ही में घरेलु श्रमिकों की "असंगठित श्रमिक सामाजिक सुरक्षा अधिनियम" 2008 में शामिल किया गया है, फिर भी इन श्रमिकों पर कोई भी राष्ट्रीय श्रम कानून लागू नहीं होता है। इन घरेलु श्रमिकों के पारिश्रमिक में सुधार लाने में न्यूनतम मज़दूरी कानून कुछ हद तक भूमिका निभा सकते हैं।

तमिलनाडु राज्य में, घरेलु श्रमिक के संगठनों और गैर सरकारी और अन्य संगठनों के लंबे समय की मांग के बाद ही घरेलु कामगार को रोज़गार के "तमिलनाडु मैनुअल श्रम अधिनियम" 1982 की अनुसूची में, जून 1999 में शामिल किया गया था। इस अधिनियम के लगभग एक दशक के बाद जनवरी 2007 में "तमिलनाडु घरेलु श्रमिक कल्याण बोर्ड" का गठन किया गया। इसके कुछ महीने बाद "आरंभिक अधिसूचना न्यूनतम मज़दूरी अधिनियम" को जारी किया गया जिसके विशेष कार्य और काम के घंटे भी सम्मिलित हैं। कर्नाटक, केरल और राजस्थान सहित कई राज्यों में न्यूनतम मज़दूरी कानून में घरेलु श्रमिकों को शामिल किया गया लेकिन इसके क्रियान्वयन की प्रक्रिया अभी भी बंद बस्ते में पड़ी है। केरल की राज्य सरकार ने घरेलु श्रमिकों को "केरल कारीगर और कुशल कर्मचारी कल्याण कोष" के सदस्यों के रूप में सम्मिलित किया है जोकि उन्हें सामाजिक सुरक्षा योजनाओं का लाभ उठाने में एक महत्वपूर्ण कदम है।

भारत में महाराष्ट्र ने "घरेलु कामगार कल्याण बोर्ड अधिनियम" 2008 को लागू किया, यह अधिनियम जिला स्तर पर "घरेलु श्रम कल्याण बोर्ड" की स्थापना करेगा जिसका मुख्य कार्य श्रमिकों का पंजीकरण कराना होगा जिससे श्रमिकों को आकस्मिक दुर्घटना, बच्चों की शिक्षा के लिए वित्तीय सहायता, चिकित्सा सहायता, मातृत्व सुविधाएँ (दो बच्चों तक), लाभार्थी के अंतिम संस्कार का खर्च आदि के लाभ प्राप्त होंगे। दिल्ली सरकार द्वारा दिल्ली प्राइवेट प्लेसमेंट एजेंसीज (रेगुलेशन) बिल, 2012 का मसौदा तैयार किया गया है। इस बिल में सभी प्लेसमेंट एजेंसियों के लिए घरेलु श्रमिकों का पंजीकरण अनिवार्य करने की जरूरत पर बल दिया है।

घरेलु कार्य पर आई०एल०ओ० कन्वेंशन 2010, अंतर्राष्ट्रीय श्रम कांग्रेस द्वारा पारित किया गया। लेकिन भारत सरकार ने अभी तक इसकी पुष्टि नहीं की है। यह कन्वेंशन स्पष्ट रूप से घरेलु श्रमिकों के बुनियादी अधिकारों की रूपरेखा, मजदूरी, काम के घंटे, व्यावसायिक सुरक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा और बाल श्रम के नियम और शर्तों पर दिशा निर्देश देता है। भारत में अभी तक घरेलु श्रमिकों को मुख्य कामगार की श्रेणी में नहीं रखा गया है इसको घर में दी गयी सेवा का ही हिस्सा माना जाता है, यहाँ तक की सकल घरेलु उत्पाद में भी इसको शामिल नहीं किया जाता है जो की एक चिंता का विषय है।

संदर्भ सूची:

जमील "ओनर क्राइम, द स्कौराग ऑफ साउथ एशिया, ", सी बी सी न्यूज़ , जनवरी 30, 2012.

इंटरनेशनल लेबर ऑर्गनाइजेशन, 2004.

आई एल ओ, वर्ल्ड इम्प्लॉइमेंट रिपोर्ट, जेनेवा 2004 .

सिल्विया अन्न ह्यूलेट "द बेटेल फॉर फीमेल टैलेंट इन इण्डिया" सेंटर फॉर वर्क लाइफ पॉलिसी 2010.

द फ्रंटलाइन, वॉल्यूम 30, भाग 2, जनवरी 26– फरवरी 08, 2013.

इंटरनेट

डा० शादाब खाँन

एसिस्टेंट प्रोफेसर (तदर्थ), भूगोल विभाग,

कमला नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

मोबाइल नं. : 9868085649

ई-मेल: shadabjnu@gmail.com

स्वातन्त्र्यसम्भवम् में समत्व की भावना

आधुनिक संस्कृत साहित्य में प्रो. रेवाप्रसाद द्विवेदी द्वारा रचित स्वातन्त्र्यसम्भवम् महाकाव्य स्वयं में अनुपम और अनूठी कृति है। यह महाकाव्य कवि की प्रतिभा का प्रत्यक्ष परिचायक है। इसका प्रकाशन काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय, वाराणसी से 1990 ई. में हुआ है। “भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम” के सन् 1957 ई. से लेकर वर्तमान भारतीय राजनीतिक घटनाक्रम तक का वर्णन इसके 75 सर्गों में किया गया है। इसमें राष्ट्रिय प्रेम और पारस्परिक समन्वय की भावना को कवि ने पदे-पदे स्थापित किया है, जो देशवासियों के हृदय में क्रान्ति का संचार करते हैं। विभिन्न भारतीय घटनाक्रमों, ऐतिहासिक तथ्यों, क्रान्तियों, दुराचारों, अत्याचारों, दमननीतियों के वर्णन के साथ-साथ कवि ने इस महाकाव्य में पारस्परिक समन्वयवादिता का जो सन्देश संसार को प्रदान किया है वह अत्यन्त ही उपयोगी तथा रोचक है। इसको आत्मसात कर प्रत्येक व्यक्ति सम्प्रदायिकता की भावना से ऊपर उत्कृष्ट राष्ट्र चिन्तक और समाज-सेवी बन सकता है। यथा-

नो मस्जिदेन कलहायति मन्दिरं ते नो मस्जिदं च कलहायति मन्दिरेण।

यस्त्वत्र हन्त कलहायति सोऽतिमाननामाभिमानगरलः खलु दर्पसर्पः॥¹

धर्मो न पीडयति किञ्चिदपि प्रजानां संभूतये स रुचिरः कोऽपि मार्गः।

यः संप्रदायकलहः मानवाख्ये सिन्धौ कुतोऽपि पतितो ननु शिशुमारः॥²

पूर्वकाल में भारत देश को सोने की चिडियाँ की पदवी प्राप्त थी। उसका मुख्य कारण था भारत देश के वासियों की समन्वयवादी नीति और उसकी सम्पन्नशीलता। भारत राष्ट्र समस्त वैदेशिक राष्ट्रों के प्रति अपने आविर्भाव काल से ही समन्वयवादी रहा है। उसने प्रत्येक देश को भातृत्व एवं समत्व की भावना से ही देखा है। परन्तु भारत के प्रति अन्य देशों की दृष्टि इस प्रकार की नहीं रही। परिणामस्वरूप ही अंग्रेजों एवं अन्य आक्रमणकारियों की कुदृष्टि ने इस देश को तहश-नहश किया, जिसके कारण भारत देश में स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष की आवश्यकता पडी और भारतीयों ने अपनी एकता और अखण्डता को बनाये रखने के लिए वैदेशिकों की दमनकारी नीति का प्रबल विरोध किया। इस प्रकार प्रस्तुत महाकाव्य में कवि ने जहाँ एक ओर भारत की राजनीतिक स्थिति का वर्णन किया है वहीं मानवता के मूल तत्त्व समत्व का भी निरूपण किया है। स्वातन्त्र्यसम्भवम् के प्रथम सर्ग के अधोलिखित पद्य में कवि ने साम्प्रदायिक भावनाओं से उठकर समस्त धर्म के समत्व की बात का प्रतिपादन करते हुए कहा है-

**प्रतिकान् परमार्थत्वे नयद्भ्यो भूतसंहतौ।
भूगोलशकलोत्तीर्णप्रभुत्वप्रदहे नमः॥^३**

अर्थात् प्रत्येक ग्रामवासी, प्रान्तीयजन तथा राष्ट्र के लोगों को यह विचार करना चाहिए कि सबका परमात्मा एक है। अतः हम पारस्परिक धार्मिक एवं सामाजिक तथा सांस्कृतिक कलह में न उलझे। सूक्ष्म तत्व पर विचार करें क्योंकि सूक्ष्म तत्व जो सबके भीतर है उस पर न विचार करने के कारण ही लोग अपने-अपने धार्मिक प्रतीकों को लेकर लड रहे हैं। उदाहरणार्थ जैसे कोई अल्लाह के लिए, कोई राम के लिए तथा कोई ईसा मसीह के लिए। इसलिए इन विवादों में न पड़कर हम सब एक परमात्मा की सन्तान हैं। अतः आपस में मिलकर रहें।

कवि ने भाषायी अनेकता में भी एकता की बात को पुरुजोर रूप से समर्थित किया है। उनका कथन है-

**भाषा काप्यस्तु संभाषा तत्र विज्ञानसाक्षिणी।
एकैव जडसंपत्तिभुक्तिमात्रास्वमूषु नः॥^४**

अर्थात् इस संसार की भाषा कोई भी हो परन्तु सब में भावार्थ तो एक ही होता है। यथा- परमात्मा, अल्ला, ईसा आदि सब भाषायी भेद से अलग हैं परन्तु भावार्थ सबका एक ही है। सब एक ही परमतत्व का ही प्रतिपादन करने वाले हैं, जो सबका उत्पन्नकर्ता, पालन तथा नियन्ता है। इस प्रकार कवि ने इस पद्य के माध्यम से समत्व की भावना को ही प्रस्फुरित किया है।

इस संसार में स्त्री और पुरुष का विशेष महत्व है। बिना इन दोनों के समत्व के सृष्टि का आविर्भाव असम्भव है। अतः इन दोनों के भी ऐक्य का प्रतिपादन करते हुए कवि का कथन है-

**द्विधा विभक्तावपि निर्विभागौ, पुमाँश्च योषिच्च तवैव भागौ।
तयोर्द्वयोर्द्वैतमयी विभूतिर्विभूतियोगः खलु विश्वलक्ष्म्याः॥^५**

अर्थात् नर और नारी रूप में विभक्त प्रत्येक जोड़ों में एकत्व की ही भावना का प्रणयन है। इसीलिए जीवन चक्र को अग्रसरित करने में दोनों की अतुल्य भूमिका है। इस भूमिका का निर्वाह करने में इस संसार की महाविभूति विश्वलक्ष्मी कारण हैं। पुनः इसी बात का प्रतिपादन 21वें सर्ग के 62वें पद्य में भी किया गया है कि नर और नारी का भेद समाज की सेवा करने में नहीं देखा जाता। यथा-

न स्त्रीत्वं न च पुरुषत्वमेव पश्यत्यध्वर्यो मनुजसमाज-वारिवास्या।

कवि ने वसुधा को एक कुटुम्ब के रूप में प्रतिपादित करते हुए तृतीय सर्ग के पद्य में इस प्रकार कहा है-

अस्यां धरित्र्यां यजमानरूपा उग्राः शिवा यत्र पुरश्चरन्ति।
ग्रामेष्वरण्येषु पुरेषु पुंसां पुञ्जेषु वृन्दारक-वन्दितेषु॥⁶

अर्थात् भारत भूमि वह धरती है जिस पर भगवान् शिव विभिन्न स्वरूपों में विभिन्न स्थलों पर भले ही पूजे जाते हैं यथा- अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा तथा जल आदि रूप में (जैसा कि कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् में भी अष्टमूर्ति का उल्लेख है)⁷; परन्तु वस्तुतः वे अपने भेद सहित अभेद रूप में एक ही तत्त्व हैं।

तृतीय सर्ग के ही अधोलिखित श्लोक में कवि ने भारत के राष्ट्रसपूतों की एकता और अखण्डता का उल्लेख करते हुए कहा है-

ऋजु - कुटिल - गतीनामध्वनीना भरतभुवनधात्रीस्तन्यपीना युवानः।
परिणतवयसां तामान्तरैक्याभिधानामुषसि रतिपरीताः सामिधेनीं प्रजेपुः॥⁸

अर्थात् स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए भारत के वीर सपूतों ने अलग-अलग मार्गों का चयन किया था। जैसे कोई ऋजु मार्गी था कोई कुटिल मार्गी परन्तु सबका यही उद्देश्य था भारत को स्वतन्त्र राष्ट्र बनाकर उसमें एकता और अखण्डता स्थापित करना। अतः प्रातः काल वे प्रार्थना सभा में ऋग्वेद के संगठन सूक्त के मन्त्र का ही पाठ किया करते थे, जिसमें एक साथ चलने की भावनादि का ही वर्णन हुआ है⁹ इस प्रकार कवि ने इस पद्य में समत्व की भावना का उद्घाटन किया है।

हिन्दु और मुस्लिम एकता का वर्णन करते हुए कवि ने निम्नलिखित श्लोक में कहा है-

अयवनयवनानामैक्यमस्यां धरित्र्यां यदभजत गरिष्ठां रूढिमवाग् युगेभ्यः।
न खलु शिथिलमेतत् कर्तुमीष्टे स्म शत्रुर्गिरिमिव करिपोतः प्रत्यगुच्चैर्जिघांसन्॥¹⁰

अर्थात् आजादी की लड़ाई के समय भारत में हिन्दु और मुस्लिमों में पारस्परिक समत्व की भावना का उदय हो गया, जिससे भारत की शक्ति और प्रबल हो गई। अतः फिर अंग्रेजों को भारत को छोड़ना ही पड़ा।

नवम सर्ग में संघ-शक्ति की महत्ता का वर्णन किया गया है कि संसार में कितना भी बड़ा संकट क्यों न उत्पन्न हो जाए, उसे संघ-शक्ति के द्वारा ही दूर किया जा

सकता है। संघ(एक-जुटता) में जो शक्ति है, वह किसी और में नहीं है- जैसा कि स्वातन्त्र्यसम्भवम् महाकाव्य में आचार्य द्विवेदी का कथन है-

**सहस्रमब्दान् परिभुक्तरत्नां रत्नाकरान्तां वसुधामरातिः।
नैषिष्यदुन्मुच्य सुखं प्रयातुं व्यरोत्स्यदेनं न यदि स्वयं सा॥¹¹**

अर्थात् एकता रूपी सूर्य में इतनी शक्ति है कि उसके समक्ष घोर अन्धकार भी नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार सूर्य विश्व के अन्धकार को अपने सामूहिक प्रकाश से नष्ट कर देता है, उसी प्रकार लोक अपनी सांघिक शक्ति से संसार के समस्त अज्ञानात्मक, प्रपञ्चात्मक दुष्कृत्य को विनष्ट कर देता है। इसी प्रकार का एक और पद्य जिसमें समत्व का पर्याय निहित है, वह निम्नलिखित है-

**नीहारभूमीधरतो महेन्द्राचलावधि द्रोग्धरि भारतीये।
अलं तमस्काण्डमिवोष्णारश्मौ स्थेमानमाप्तुं न बभूव तन्त्रम्॥¹²**

अर्थात् अब (स्वतन्त्रता संग्राम के समय) हिमालय से लेकर श्रीलंका के महेन्द्र पर्वत तक सम्पूर्ण भारत विद्रोह में खड़ा हो गया तो शत्रु सूर्य के समक्ष तमस्काण्ड के समान स्थिरता को प्राप्त करने में सफल नहीं हो सका।

प्रस्तुत पद्य में कवि का कथन इस बात में निहित है कि अगर बड़े से बड़ा कार्य भी साथ मिलकर (संघ बनाकर) किया जाए तो उस कार्य की सिद्धि में कोई बाधा नहीं आती वह कार्य निश्चित ही सिद्ध हो जाता है। इस बात के समर्थन में कवि ने कीटादि का उदाहरण देकर संघ-शक्ति के महत्व को इस प्रकार दर्शाया है-

**न मत्कुणानामपि, मक्षिकाणामपि, क्षुपाणामपि वा समूहम्।
विरोद्धुमभ्युद्यतसंघशक्तिं पितामहोऽपि क्षमते विसोढुम्॥¹³**

अर्थात् खटमल, मक्खियों और पौधों का भी समूह यदि संघ बनाकर उसके द्वारा विरोध करे तो उसका सामना पितामह भी नहीं कर सकते।

स्वतन्त्रता-संग्राम में वीरों ने बढ़-चढ़ कर भाग लिया तो सम्पूर्ण भारत एकत्व और समत्व की भावना से एक साथ खड़ा था। भारत वर्ष को स्वतन्त्रता प्राप्त कराने के उद्देश्य से सम्पूर्ण भारतीय हिन्दू-मुस्लिम-सिख-ईसाई आदि धार्मिक अलगाव की भावना से अलग हटकर एकजुट हो चुके थे। इसी बात का समर्थन अधोलिखित पद्य द्वारा किया गया है-

सर्वाऽपि भूमिर्भरतस्य भूत्वा धृतैकदेहेव ततस्तदानीम्।
व्रणं यथा कर्त्तयितुं परेषां राज्यं जजागार समिद्धचित्ता॥¹⁴

अर्थात् भरत (राजा) की यह पूरी भूमि (भारतवर्ष) उन दिनों इसी कारण एक शरीर धारण की हुई थी। परराज्य को व्रण के समान काटकर हटाने के लिए यह प्रदीप्त चित्त से जाग उठी। इस प्रकार भारत-माता के पुत्र, पुत्र ही होते हैं इनमें धार्मिकता के आधार पर भारत-माता के प्रति अलगाव उत्पन्न नहीं होता।

इसी प्रकार चतुर्दश सर्ग के अधोलिखित पद्य में कवि समाज से प्रश्न करता है कि सभी व्यक्तियों को परमात्मा ने एक बनाया है, व्यक्ति ही है, जो धर्म के आधार पर अपने को बाँटे हुए है। इस बात के समर्थन में कवि का कथन है-

वदतु भगवान् कश्चित् सत्यं मनुष्यमहीतले
क्व नु खलु बभूवादौ हिन्दूः क्व वा बत मुस्लिमः।
वचनरचनद्वैधीभावात् कथं चरिताऽपृथक्
पृथगिव हहा जातो जीवो मनुष्यसमाह्वयः॥¹⁵

अर्थात् कोई भगवान् पृथिवी पर आए और सच-सच कहे कि पहले कहाँ था हिन्दू और कहाँ था मुस्लिम। छिः छिः। टुकड़े हुए वचनरचन (भाषा) में, नाम रखने में, जबकि आचरण एक ही था, तब हा हा, यह मनुष्य-नामक जीव पृथक् जैसा कैसे हो गया? कवि का आशय यह है कि भगवान् ने सभी मनुष्यों को एक मनुष्य-जाति का ही बनाया है। उसने हिन्दू-मुस्लिम नाम से मनुष्यों में भेद नहीं किया। ये भेद तो स्वयं मनुष्य द्वारा ही किया गया है, जबकि सभी मनुष्य जातियों का आचरण एक जैसा ही होता है। क्या हिन्दू-मुस्लिम धर्म के लोग अपने घर, अपने समाज तथा अपने प्रियजनों से अलग-अलग आचरण प्रस्तुत करते हैं अर्थात् नहीं। सभी धर्म के व्यक्तियों का अपने प्रियजनों के साथ एक-सा आचरण रहता है।

इसी प्रकार अष्टादश सर्ग के अधोलिखित पद्य में भी बतलाया गया है कि ईश्वर ने मनुष्यों को जन्म लेने से पूर्व समान रूप वाला बनाया है परन्तु मनुष्य ही है जिसने अपने प्रतीक चिह्न बनाकर स्वयं को भिन्न-भिन्न समुदाय वाला बना लिया है। कवि का मत है कि सभी व्यक्तियों को एकता और समत्व के साथ रहना चाहिए। क्योंकि जब परमात्मा ने ही व्यक्ति में कोई भेद नहीं किया तो मनुष्य कौन होता है, मनुष्य-मनुष्य को धर्म के नाम पर बाँटने वाला। इस सन्दर्भ में आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी का कथन है-

प्राग् जन्मनो भजसि यत्र गृहेऽतिथित्वं त्वं तत्र मित्र! वद दृष्टचराणि किन्तु।
एताः शिखा मुखमिदं कृपणं करालैः कूर्चैरिय गलगता च यमस्य रज्जुः॥¹⁶

अर्थात् कवि कहता है हे मित्रों! बतलाओं जन्म से पूर्व जिस घर के आप अतिथि हुआ करते थे, उस गर्भरूपी घर में क्या कभी आपने ये चोटियाँ, दाढ़ी-मूँछ वाले ये कराल चेहरे अथवा गले में लगी यह यमरज्जु (कसो) आदि देखी हैं। प्रस्तुत पद्य में धार्मिक प्रतीक चिहनों का वर्णन किया गया है कि चोटी प्रतीक है हिन्दूओं का, दाढ़ी मूँछ सिक्खों का और कसो ईसाइयों का। इन धार्मिक चिहनों को अपनाकर व्यक्ति किसी धर्म विशेष का अनुयायी बन जाता है और प्रतीकों को प्रतीक (चिहनों) के रूप में अपनाकर बाह्य संसार को अपने द्वारा अपनाये गए धर्म का परिचय देता है। परन्तु व्यक्ति को ईश्वर ने जन्म से समान बनाया है। अतः सब मनुष्यों को पारस्परिक समत्व भाव से रहना चाहिए। इसी सन्दर्भ में आचार्य द्विवेदी का पुनः कथन है-

यं सम्प्रदायमुररीकुरुषे नर त्वं पश्चादिमं स्वजनुषः खलु भूमिसीम्नि।
किं संग्रहालयगतानि तदन्यदीयैस्तल्लक्षणानि कलहायितुमुद्यतन्ते॥¹⁷

अर्थात् हे नर! अपने जन्म के पश्चात् इस भूमि पर आप जिस किसी सम्प्रदाय को अपनाते हो। क्या उसके चिह्न संग्रहालय में रखे उसी सम्प्रदाय के अन्य अनुयायियों के चिहनों से झगडते हैं? क्या सम्प्रदाय या उनके चिह्न झगडों में कारण होते हैं?

कवि का कथन है कि अगर व्यक्ति चिहनों को धारण करके स्वयं को किसी विशेष सम्प्रदाय का बना भी ले तो क्या अनुयायियों द्वारा धारण किए गये ये चिह्न दूसरे सम्प्रदाय के अनुयायियों से लड़ने जाते हैं अर्थात् नहीं। वे तो व्यक्ति का दर्प ही है जो व्यक्ति को व्यक्ति से लड़ाता है। न तो मन्दिर उठकर मस्जिद से कलह करने जाता है, न तो मस्जिद ही मन्दिर से कलह करती है। तो लड़ने वाला है कौन? जो लड़ने वाला है वह है दर्परूपी सर्प, इसका नाम अभिमान (दर्प) है।¹⁸ व्यक्ति को दर्प, अहंकार, अभिमान, घमण्ड आदि का त्याग करके भाई चारे और ऐक्य के साथ रहना चाहिए। इस प्रकार प्रस्तुत पद्यों में पृथ्वी पर धार्मिक अलगाववाद की घोर निन्दा करते हुए सर्वधर्म समत्व का उत्कृष्ट प्रदर्शन कवि ने किया है।

कविवर द्विवेदी ने चीनपाकाभिद्रोह के समय भारतीय जनता में जो ऐक्य आविर्भूत हुआ था, उसका बहुत ही रोमाञ्चकारी वर्णन किया है। कवि उस समय की अवस्थिति का वर्णन करते हुए कहता है-

काले ह्यस्मिन् विषमविषमे प्रोज्जजागार राष्ट्रे
पूर्णोऽप्यस्मिन् प्रबलविमलं किञ्चिदैक्यं जनानाम्।
ह्यादिन्येषा भवति, पुरतोऽरातयो हन्त यस्याः
संचेष्टन्ते हरिणशिशवो यद्वदग्नौ वनोत्थे।¹⁹

अर्थात् वह समय अत्यन्त विषम था परन्तु उस समय पूरे राष्ट्र की जनता के मध्य भावैक्य जागृत हो उठा और वह भाव इतना प्रबल था कि उस वज्र सदृश जनैक्य के समक्ष शत्रुसंघ दावाग्नि में जलने वाले कोमल मृग शिशु के समान प्रतीत हो रहे थे। अर्थात् जिस प्रकार कोमल मृग का शिशु दहकती दावाग्नि में जलकर शीघ्र ही भस्म हो जाता है उसी प्रकार भारतीय जनता की एकता की क्रोधाग्नि के समक्ष चीन और पाक के लोग जलाकर भस्म कर दिये गये।

आचार्य द्विवेदी ने चतुर्विंश सर्ग में सम्पूर्ण भूतल को भारत वर्ष का कुटुम्ब कहा है, सम्पूर्ण देशों का भेद होने पर भी उनमें कौटुम्बिक अभेद है। जैसा कि कवि का कथन है-

एकं कुटुम्बमिव भूतलमात्रमेतत् कोष्ठोपमाँश्च निखिलानपि देशभेदान्।²⁰

अर्थात् हे देश! तेरे भीतर यह पूरा भूतल एक कुटुम्ब बना हुआ है, इसके भीतर ये सभी राष्ट्र एक-एक प्रकोष्ठ बने हुए हैं। प्रस्तुत पद्य में सम्पूर्ण संसार की एकता का वर्णन किया गया है। कवि मानता है कि यह पूरा भूतल एक कुटुम्ब के समान है क्योंकि भारत को विभिन्नताओं का देश कहा जाता है। भारत में अनेक भाषाओं तथा अनेक धर्मों को मानने वाले व्यक्ति हैं। इन्हीं विभिन्नताओं के कारण ही कवि ने भारत देश को विश्व का कुटुम्ब कहा है।

इसी प्रकार 24वें सर्ग में भी समत्व की भावना का वर्णन किया गया है कि सम्पूर्ण विश्व एक है यहाँ सीमाओं का विभाजन करने से न तो मानवता में भिन्नता आती है और ना ही एकत्व में। इस बात का उल्लेख कवि ने इस प्रकार किया है-

बुद्ध्यस्व मानव! समुद्रशिलोच्चयादिभेदेन भिद्यत इदं न कदापि विश्वम्।
भिन्नेऽपि हस्तचरणे यदि वाक्षिकर्णे भिन्नत्वमेति किमु मानव! मानवत्वम्।²¹

अर्थात् हे मनुष्यों आप जान लीजिए कि समुद्र पर्वत आदि के भेद से यह विश्व भिन्न नहीं हो जाता। क्या हाथ, पैर या आँख-कान भिन्न होने से तुम्हारा मानवत्व भी भिन्न हो जाता है? अर्थात् नहीं। प्रस्तुत पद्य में कवि का भाव है कि समुद्र, पर्वत

आदि के भेद से यह विश्व भिन्न नहीं माना जा सकता है। क्योंकि परमात्मा द्वारा बनाया गया, सम्पूर्ण संसार एक ही समान है। इसीलिए हमारे वेद तथा परवर्ती साहित्य कहते हैं- **वसुधैव कुटुम्बकम्** तथा **यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्**। परन्तु प्रत्येक देश के मनुष्य में जलवायु आदि से कुछ-कुछ भिन्नता भी होती है। जैसे- दक्षिण अफ्रीका के लोग श्याम वर्ण के होते हैं तो अमेरिका, चीन, जापान आदि देशों के लोग गौरे रंग के होते हैं। चीन आदि अनेक देशों के लोगों की आँखें भी थोड़ी छोटी होती हैं। इस प्रकार प्रत्येक देश के लोग भिन्न-भिन्न रूप-रंग एवं आकृति वाले होते हैं। परन्तु सभी मनुष्यों में एक ही आत्मा के होने के कारण सब में मानवत्व तो एक ही प्रकार का होता है।

धर्म मनुष्य को जोड़ता है, तोड़ता नहीं। स्वातन्त्र्यसम्भवम् महाकाव्य के सप्तविंश सर्ग में आचार्य द्विवेदी धार्मिक समिष्ट की भावना का वर्णन करते हुए कहते हैं-

**धर्मो न पीडयति कञ्चिदपि प्रजानां संभूतये स रुचिरः खलु कोऽपि मार्गः।
यः संप्रदायकलहः स हि मानवाख्ये सिन्धौ कुतोऽपि पतितो ननु शिशुमारः॥²²**

अर्थात् धर्म किसी को भी पीडा नहीं पहुँचाता। धर्म तो प्रजाओं की सम्भूति का रुचिर मार्ग है। कवि का मानना है कि धार्मिक सम्प्रदायों के बीच का कलह तो मानव-नामक सिंधु (समुद्र या नदी) में अन्यत्र कहीं से आकर घड़ियाल की तरह उनके मध्य कूद पड़ा है।

सभी सम्प्रदायों के मनुष्यों के अन्तःकरण में सदैव मानवत्व विद्यमान रहा ही करता है और उसके धार्मिक ग्रन्थ भी उसे सदैव सच्चरित्रता तथा अहिंसा का पाठ पढाते रहते हैं। इसीलिए क्रान्तिकारी इकबाल ने भी कहा है- **मज़हब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना, हिन्दी हैं हम वतन है हिन्दोस्तां हमारा**। कवि मनुष्य समाज पर कड़ा प्रहार करते हुए बतला रहा है कि सभी सम्प्रदाय, सभी धार्मिक ग्रन्थ अहिंसा, सत्य, समष्टि की शिक्षा देते हैं और सभी प्राणियों को एक मानते हैं तो कलह रूपी जो घड़ियाल है अर्थात् जो दूषित भावना है वह मनुष्यों के भीतर क्यों प्रवेश करती है जिसके कारण समाज एवं राष्ट्र विखण्डित हो जाता है।

अग्रिम पद्य में कवि का कथन है कि चाहे धार्मिक ग्रन्थ- टेस्टामेण्ट (ईसाईयों का धर्मग्रन्थ), गुरुग्रन्थ (सिक्खों का धर्मग्रन्थ), कुरान (मुसलम सम्प्रदाय का धर्मग्रन्थ), वेद (हिन्दू सम्प्रदाय का धर्मग्रन्थ) आदि नाम से भिन्न-भिन्न रूप और भिन्न नाम वाले भले ही क्यों न हों परन्तु सभी अन्तःकरण की शान्ति की शिक्षा

देते हैं। इसीलिए समस्त धर्मग्रन्थ अपने आप में एक ही नहीं अपितु अद्वितीय भी है।²³ सभी ग्रन्थों का भाव और ज्ञान एक ही प्रकार का है। मनुष्य-मनुष्य के बीच का जो भेद है वह केवल बैखरी-मात्र (शब्दज्ञान) के कारण ही है अर्थात् केवल शब्दों के माध्यम से ही मनुष्य और उनके धर्मग्रन्थ विभिन्न सम्प्रदायों में बंटे हैं। परन्तु समस्त मनुष्यों का अन्तःकरण, धर्मग्रन्थों का ज्ञान तथा सम्प्रदायों की मान्यता एक ही उद्देश्य को पूर्ण करने का उपदेश प्रदान करती हैं और वह उद्देश्य है मनुष्य की वास्तविक मानवता।

समत्व की भावना को उद्घाटित करने वाला 31वें सर्ग का एक पद्य जिसमें हिन्दू-मुसलम एकता का सुन्दर उदाहरण कवि ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है-

**बाबरीमस्जिदे पश्चात् खनित्रं निपतिष्यति।
पूर्वं मूर्ध्नि ममेत्यासीद् घोषणाऽस्य त्रिपाठिनः।।²⁴**

अर्थात् कवि का कथन है कि कमलापति त्रिपाठी ने तत्कालीन समय में यह घोषणा की थी कि मैं हिन्दू-मुस्लिम में पारस्परिक, धार्मिक एवं सौहार्द का मतभेद नहीं होने दूँगा। यदि किसी हिन्दू समुदाय के व्यक्ति को मस्जिद तोड़ने के लिए फावड़ा चलाना है तो वह प्रथम प्रहार मुझ पर करें। इसके पश्चात् ही वह मस्जिद पर प्रहार कर सकता है। इस प्रकार प्रस्तुत पद्य में कवि ने हिन्दू-मुस्लिम के पारस्परिक सौमनस्यात्मक, धार्मिक शान्ति के एकत्व और समत्व का वर्णन किया है। यह पद्य आज के मानव को भी इसी पारस्परिक समता का उपदेश प्रदान करता है जिस धार्मिक कलह में आज हिन्दू-मुस्लिम लड़ रहे हैं।

इस प्रकार कवि ने स्वातन्त्र्यसम्भवम् महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग में समत्व की भावना का विवेचन किया है। कवि ने इस महाकाव्य में विभिन्न प्राकृतिक एवं अप्राकृतिक उपादानों को, जो समत्व की भावना की ओर संकेत करते हैं अथवा उपदेश देते हैं उनको उदाहृत करते हुए लोक को समत्व की ओर अग्रसर होने का उत्कृष्टतम उपदेश दिया है, जो आज के मनुष्य समाज के लिए अत्यन्त उपादेय है।

सन्दर्भ सूची

1. स्वातन्त्र्यसम्भवम् महाकाव्य-18/50
2. वही-27/16
3. वही-1/22
4. वही-1/25

5. वही-2/16
6. वही-3/4
7. अभिज्ञानशाकुन्तलम्-1/1
8. स्वातन्त्र्यसम्भवम् महाकाव्य-3/52
9. ऋग्वेद-संगठन सूक्त
10. स्वातन्त्र्यसम्भवम् महाकाव्य-3/56
11. वही-9/16
12. वही-9/20
13. वही-9/23
14. वही-9/51
15. वही-14/58
16. वही-18/47
17. वही-18/49
18. वही-18/50
19. वही-16/50
20. वही-24/29
21. वही-24/47
22. वही-27/16
23. वही-33/103-104
24. वही-31/8

डॉ. कमलेश रानी

असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग

कमला नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

मोबाइल नं. : 9540140569

ई-मेल: kamalbattra@gmail.com

हिन्दी भाषा शिक्षण: संभावना के विकल्पों की खोज

भाषा-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में हिन्दी भाषा शिक्षण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हिन्दी भाषा-शिक्षण भाषा-विज्ञान के व्यावहारिक पक्ष से संबंधित है। शिक्षण का सामान्य अर्थ है - ज्ञान देना, शिक्षा देना, सिखाना और कौशल को विकसित करना। किसी भी प्रकार का सैद्धांतिक अथवा व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करना शिक्षण कहलाता है। शिक्षण को प्रभावी बनाने में भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। भाषा के सन्दर्भ में शिक्षण प्रक्रिया जटिल से सरल की ओर निरंतर चलते रहने वाली प्रक्रिया है। हिन्दी भाषा के सन्दर्भ में देखा जाए तो पाएंगे कि हिन्दी भाषा का एक हजार साल से भी ज्यादा का इतिहास रहा है और यह सदैव कठिन से सरल की ओर बढ़ती रही है।

आज शिक्षा, जनसंचार, व्यापार, पर्यटन, सिनेमा जैसे अनेक माध्यमों से हिन्दी पूरे देश और दुनिया में लोकप्रिय हो रही है। वर्तमान समय में हिन्दी समाज का बड़ा उपभोक्ता बाज़ार है। हिन्दी भाषा के व्यापक फलक को देखा जाए तो निःसंदेह लोक व्यवहार एवं बाजारी व्यावहारिकता की दुनिया में एक नए प्रकार की बिकाऊ आवाज़ बनती हिन्दी अन्य भाषाओं से कुछ मायनों में तो अलग ठहरती ही है, अलग दिखने की यह प्रवृत्ति हिन्दी शिक्षण को भी नए आयाम प्रदान करती है। मीडिया, विज्ञापन जगत में हिन्दी ऐसी भाषा नज़र आती है जिसके जरिए बहुराष्ट्रीय कम्पनियों अपने ब्रांड को न केवल भारत में अपितु विदेशों में भी बेच सकती हैं। डॉ. माणिक मृगेश हिन्दी भाषा की उपयोगिता दर्शाते हुए लिखते हैं कि “विदेशी कम्पनियों ने उत्पादों की प्रचार सामग्री जहां हिन्दी में छपवाई है, वहीं उनकी जानकारी भी हिन्दी में दे रही है। आज जहां प्रिंटर्स में 'Made in Japan' अंग्रेजी में लिखा है वहीं उस पर एलपीएप्सन 1007 हिन्दी डॉट मेट्रिक्ट्रिटर हिन्दी में लिखा है। आज टी.वी. के सारे चैनल हिन्दी का प्रयोग कर रहे हैं। बी.बी.सी. तो अपना घोर वैज्ञानिक कार्यक्रम डिस्कवरी तक हिन्दी में प्रसारित कर रहा है। बड़ी-बड़ी कम्पनियों जो हिन्दी के नाम से नफरत करती थीं अपने विज्ञापन हिन्दी में दे रही हैं। वैश्वीकरण के युग में हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल है।” (डॉ. माणिक मृगेश, भूमंडलीकरण, निजीकरण व हिन्दी, पृष्ठ 13-14)

आज हिन्दी केवल भारत की ही नहीं है अपितु विश्व की भाषा बन रही है। पूर्व में ‘भाषा की प्रकृति’ को देखते हुए हिन्दी शिक्षण की बात की जाती थी किन्तु अब

हिन्दी भाषा का ज्ञान देते समय सूचनाओं और तथ्यों को भी स्वीकार करना आवश्यक है। इसीलिए अब भाषा-प्रयोगशालाओं और यांत्रिक उपकरणों के उपयोग पर बल दिया जाता है। आज का युग तकनीक का युग है। इस युग के क्रियाशील व जिम्मेदार अंग होने के कारण भाषाई शिक्षकों का भी यह दायित्व बन जाता है कि वे अपनी शिक्षा प्रणाली में समयानुसार परिवर्तन करें। और वे न केवल उन्हें भाषाई आधार प्रदान करें बल्कि उनकी ज्ञान वृद्धि में भी सहायक हों। भाषा के पाठ्यक्रम में नैतिक मूल्यों से प्रेरित कहानियों, कविताओं, किस्सों को पाठ्यक्रम का हिस्सा बनाकर अभ्यास करवाया जा सकता है। इन सभी तथ्यों को यदि तकनीक के साथ जोड़ दिया जाए तो शिक्षण सामग्री को रुचिकर बनाया जा सकता है और एक अध्येता के लिए यह सहज गृहणीय भी हो जाएगा। प्रो. दिलीप सिंह लिखते हैं - “हिंदी शिक्षण ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, जापान, चीन में भी नवीनतम साधन उपलब्ध है। भाषा प्रयोगशाला और यांत्रिक उपकरणों का प्रयोग करते हुए भाषा अध्येता को कम से कम समय में सक्षम बनाने का एक प्रयास है” (हिंदी भाषा चिंतन, प्रो. दिलीप सिंह, पृष्ठ 280) भाषा शिक्षण में यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि अध्येता को किसी भी भाषा से परिचित कराते समय साहित्य, समाज, संस्कृति जैसे पहलुओं को अनदेखा नहीं किया जा सकता है। हिंदी शिक्षण देते समय हिंदी के परिवेश को भुलाया नहीं जा सकता।

भारत सरकार के राजभाषा-विभाग ने हिन्दी शिक्षण की दिशा में अनेक महत्वपूर्ण कदम उठाए हैं। केंद्रीय सरकार के कर्मचारियों को सेवा के दौरान हिन्दी का प्रशिक्षण देना, केंद्रीय अनुवाद ब्यूरो के माध्यम से भारतीय साहित्य का हिन्दी में अनुवाद, हिन्दी भाषा में काम करने वाले कंप्यूटर, टेलीप्रिंटर, वर्ड प्रोसेसर जैसे यांत्रिक उपकरणों का विकास हिन्दी शिक्षण को प्रभावी बनाने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम हैं। हिन्दी के सम्बन्ध में यह भी आम संकल्पना रही है कि इसमें वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली का नितांत अभाव है और अपनी इस रिक्तपूरति के लिए अंग्रेजी पर ही निर्भर है। पर इस मान्यता को डॉ. रघुवीर ने असत्य सिद्ध करते हुए लगभग 5 लाख पारिभाषिक शब्द तैयार किए हैं। डॉ. भोलानाथ तिवारी, हरदेव बाहरी ने भी पारिभाषिक शब्दों के निर्माण में अहम् भूमिका निभाई है। हालांकि कहीं कहीं ये पारिभाषिक शब्द क्लिष्ट और असंगत जान पड़ते हैं किन्तु शब्द भंडार और भाषाई अस्मिता के संरक्षण में इनकी भूमिका को झुठलाया नहीं जा सकता। हिन्दी भाषा शिक्षण में भाषा के प्रति आत्मीयता और आत्मसात करने की प्रबल इच्छा शक्ति का होना भी अनिवार्य है और यह तभी संभव हो सकता

है जब एक शिक्षक अपने अध्येता के प्रति मार्गदर्शक की भूमिका निभाने के साथ-साथ अपनी भाषा के उपयोगिता के तत्त्वों को भी व्याख्यायित कर सके, क्योंकि जब तक अध्येता की भाषा के प्रति रुचि होगी तब तक अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

हिन्दी भाषा शिक्षण को प्रभावी रूप से सक्षम बनाने हेतु सर्वप्रथम पाठ्यक्रम को रुचिकर बनाने का प्रयास करना चाहिए। इसके लिए श्रवण कौशल, वार्तालाप कौशल तथा रचना कौशल की दृष्टि से सामग्री का निर्माण करना चाहिए। हिन्दी के प्रभाव शिक्षण के लिए यह जरूरी है कि 'शब्द' को परिवेश के साथ जोड़ते हुए समझाया जाए और 'आवृत्ति' पर विशेष बल देते हुए शब्दोच्चारण पर ध्यान दिया जाए। रहीम के दोहे 'करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान' को चरितार्थ करते हुए एक अच्छे अभ्यास द्वारा हिन्दी भाषा शिक्षण को प्रभावी बनाया जा सकता है। विदेशी अध्येताओं के समक्ष हिन्दी भाषा शिक्षण देते समय चित्रों की भी सहायता ली जा सकती है। यही नहीं, हिन्दी साहित्य के इतिहास से अवगत कराते हुए प्रत्येक काल की मुख्य विशेषताओं का विवेचन करने के लिए चित्रों की भी सहायता ली जा सकती है। हिन्दी शिक्षण को प्रभावी बनाने के लिए जरूरी है कि पढ़ने लिखने से सिखाने की अपेक्षा श्रवण और वाचन कौशल पर ज्यादा ध्यान दिया जाए और तकनीकी सुविधाओं पर भी बल दिया जाए। 'अनुसारक' (ANUSARAK) तकनीक किसी भी हिन्दी भाषी ज्ञाता के लिए उपयोगी कही जा सकती है। इस तकनीक द्वारा तेलुगू, मराठी, बंगला तथा पंजाबी भाषाओं का हिन्दी में अनुवाद किया जा रहा है। अहिन्दी भाषाई राज्यों के साथ जुड़ने का यह तरीका निःसंदेह कारगर सिद्ध हो रहा है।

द्वितीय और तृतीय भाषा के रूप में हिन्दी शिक्षण को तकनीक के माध्यम से स्वयं सीखने का सबसे प्रभावी -लीला सॉफ्टवेयर' है। इसमें हिन्दी प्रबोध, प्रवीण और प्रज्ञा जैसे पाठ संचालित किए जाते हैं। इसकी विशेषता यह है कि इसमें शिक्षण के साथ-साथ परीक्षण का काम भी स्वयंमेव पूरा होता जाता है। इस वेबसाइट के सहारे भारतीय भाषाओं की पढ़ाई ऑनलाइन मुफ्त प्रदान की जा रही है। रेंडिफ, भारत मेल, जिस्ट मेल, अपना मेल, वेब दुनिया, जागरण आदि अनेक भारतीय तथा विदेशी साइटों पर भी ई-मेल में हिन्दी शिक्षण की सुविधा बहाल की गई है। हिन्दी शिक्षण के लीला कार्यक्रम के अन्तर्गत तीन भागों में विभाजित किया गया है। 'प्रबोध' कार्यक्रम में वर्ण ज्ञान, शब्दकोश, पाठ आदि शामिल हैं। 'प्रवीण' मुख्यतः

सरकारी और कॉर्पोरेट जगत में कार्यरत व्यक्तियों के लिए है इसमें व्याकरण सम्बन्धी भाग महत्वपूर्ण है तथा 'प्रज्ञा' भाग में अधिकारिक पत्रों के नमूने सिखाए जाते हैं। परिपत्र, आदेश, निविदा सूचना, ज्ञापन आदि व्यावहारिक प्रकार हैं जो सरकारी कार्यालयों में व्यवस्था के साथ-साथ एकरूपता भी बनाए रखते हैं।

विश्व के विकसित देशों की भाषाओं की चुनौती का सामना करने के लिए हिन्दी को सरल, सहज, सुगम और विषयानुकूल बनाना आवश्यक है। हिन्दी में इलैक्ट्रॉनिक्स विभाग द्वारा चलाए गए D.T.L.I. (1991) संस्थान ने हिन्दी शिक्षण के सूचना तकनीकी के प्रयास किए हैं। इसी तकनीक के कारण आज हिन्दी में कई फोंट्स भी उपलब्ध हैं। चाणक्य, मंगल, शिव, भारती, कुण्डली, नारद आदि अनेक प्रकार के फोंट्स उपलब्ध हैं। हिन्दी शिक्षण के सन्दर्भ में देवनागरी लिपि को सरल बनाने के लिए हिन्दी लैंग्वेज, इन्फो देवनागरी, U.K. INDIA, देवनागरी.नेट, माई हिन्दी टीचर, वर्बल प्लेनेट.कॉम, AVSHAY.COM, स्क्रिप्ट्स ऑफ ऑल एशिया एंड ब्राह्मी स्क्रिप्ट्स प्रभावी कार्य कर रहे हैं। वर्तनी शोधन हेतु 'स्पेल चेक' वर्तनी की अशुद्धियों को बताने के साथ-साथ अशुद्धि शोधन के उपाय भी बताता है।

हिन्दी शिक्षण को प्रभावी बनाने के लिए कई वेबसाइट्स भी कार्य कर रही हैं। इनमें www.transparent.com, [ucla hindi](http://ucla.hindi) में हिन्दी लिपि का प्रारंभ, व्याकरण, समाज में हिन्दी की भूमिका, बोलियों पर प्रकाश डाला गया है। ऑनलाइन हिन्दी शिक्षण में www.akhlesh.com एक मल्टीमीडिया साइट है जिसमें वर्ण - योजना, सही उच्चारण के साथ-साथ पथ को प्रभावी बनाने हेतु गाने भी डाले गए हैं। | DOOR INTO HINDI अफरोज ताज द्वारा निर्मित हिन्दी मल्टीमीडिया लेसन मेन्यू हिन्दी शिक्षण की दृष्टि से प्रभावी माध्यम है। इनके अतिरिक्त [apni hindi.com](http://apni.hindi.com), [digital dialects](http://digital.dialects), [BYKI hindi](http://BYKI.hindi), [hindi ki bindi](http://hindi.ki.bindi), [language reef.com](http://language.reef.com), [hindi gym](http://hindi.gym), indif.com आदि भी हिन्दी भाषा शिक्षण के क्षेत्र में नए आयाम गढ़ रहे हैं। E-BOOKS भी हिन्दी शिक्षण को नई दिशाएं दे रही हैं। A SHORT INTRODUCTION TO HINDI, NCERT TEXT BOOKS ने हिन्दी शिक्षण को नए आयाम देने का प्रयास किया है।

भारतीय भाषा कुंजीपटल न केवल हिन्दी भाषा शिक्षण अपितु अन्य भारतीय भाषाओं के लिए भी उपयोगी है। IIKEYB सॉफ्टवेयर किसी भी भाषा की लिपि में टाइप करता है। इसी तरह UW हिन्दी शब्दकोश तथा विश्लेषण के आधार पर विकसित किया गया है। हिन्दी जेनेरेशन हिन्दी शब्दकोश के साथ-साथ व्याकरण

और अर्थ सम्बन्धी नियमों के आधार पर व्याख्यात्मक सम्बन्ध भी उपलब्ध कराता है। सारथी-2 तकनीक हिन्दी और पंजाबी भाषा को कंप्यूटर की सहायता से शिक्षण के लिए तकनीक की सहायता से हिन्दी भाषा का अभ्यास, सही शब्दोच्चारण को चलचित्र और वीडियो द्वारा दिया जा सकता है। हिन्दी वाक् पहचान प्रणाली में कंप्यूटर द्वारा अध्येता को हिन्दी पाठ के उच्चारण दिए जाते हैं जिससे वह हिन्दी की पहचान कर सके। आई.बी.एम.फ्रेम वर्क पर वोइस स्टैण्डर्ड के आधार पर यूनिकोड को स्थापित करके हिन्दी भाषी लोगों के अनुकूल तैयार करने का प्रयास है।

हिन्दी शिक्षण को प्रभावी और व्यापक जन समुदाय तक में फैलाने हेतु आज इन्टरनेट साईट पर हिन्दी साहित्य प्रमुख भारतीय भाषाओं में विभिन्न सॉफ्टवेयर, संपर्क सूत्र उपलब्ध हैं। इनमें www.rajbhasha.nic.in में सभी सरकारी कार्यालयों में हिन्दी शिक्षण सामग्री को व्यवस्थित ढंग से उपलब्ध करवाया गया है। www.indianlanguages.com पर हिन्दी सहित अन्य भाषाओं के लिए साहित्य सम्बन्धी महत्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध है। www.dictionary.com पर शब्दकोश, व्याकरण आदि विश्व की प्रमुख भाषाओं को सीखने के लिए इलैक्ट्रॉनिक सुविधाएं उपलब्ध हैं। www.rosettastone.com पर किसी भी शब्द का अंग्रेजी समानार्थी शब्द प्राप्त किया जा सकता है। www.wordsanywhere.com साईट पर हिन्दी भाषा से सम्बन्धित महत्वपूर्ण जानकारियां दी गई हैं। www.hindibhasha.com एवं www.bhashaindia.com पर हिन्दी पैकेज की जानकारी दी गई है। इसके अतिरिक्त आकृति '95, जिस्ट कार्ड, लीप, कैरली, आई.एल.किट, बिजी रायटर, अक्षर फॉर विंडोज, शब्द रत्न सुपर, श्रीलिपि देवरतन, अंकुर पर हिन्दी सहित भारतीय में कार्य करने की सुविधा है।

भारत जैसे विशाल देश में राष्ट्रीय अखंडता को बनाए रखने में हिन्दी व प्रादेशिक भाषाओं की अहम भूमिका रही है। यदि सभी सरकारी कार्यालयों में हिन्दी भाषा टंकण, आशुलिपि की प्रशिक्षण सम्बन्धी अपेक्षाओं को पूरा किया जाए तो हिन्दी भाषा को प्रभावी ढंग से सिखाया जा सकता है। इन सभी तकनीकी सुविधाओं को होने के बाद भी जरूरी है कि अध्येता के समक्ष स्वाध्याय की प्रवृत्ति को जागृत किया जाए। साहित्यिक रसास्वादन के माध्यम से साहित्यिक प्रतिभा को विकसित करना आवश्यक है जिससे तर्क बुद्धि और भाषा की व्यवहार कुशलता को बढ़ाया जा सके। शिक्षण किसी भी भाषा का क्यों न हो, अभ्यास बहुत महत्वपूर्ण है। अभ्यास की न्यूनता और अधिकता से भाषा ज्ञान पर प्रभाव पड़ता है।

हिन्दी शिक्षण को प्रभावी रूप से संचालित करने हेतु कुछ तथ्यों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है -

- हिन्दी में ज्ञान विज्ञान की हर आवश्यकता को पूरी करने वाली जानकारी होनी चाहिए।
- हिन्दी में द्वितीय और तृतीय भाषा के रूप में सीखने वाले अध्येता को मनोरंजन और नैतिक दृष्टिकोण से प्रेरित शिक्षण बेहतर विकल्प होगा।
- हिन्दी में विभिन्न सॉफ्टवेयर का विकास हो।
- हिन्दी वर्णमाला पर आधारित बेहतर कुंजीपटल का विकास होना चाहिए।
- हिन्दी भाषा की ध्वनि, लिपि, शब्द, भाषा प्रयोग आदि से सम्बन्धित विचार हिन्दी में देने के लिए लाईनेक्स और ओपन सोर्स सॉफ्टवेयर के जरिए इन संस्थाओं को हिन्दी का लोकलाईजेशन ग्रुप विकसित करना चाहिए।
- हिन्दी भाषा शिक्षण के सभी पहलुओं पर तकनीकी दृष्टिकोण से विचार कर नवीन पद्धति पर बल देना चाहिए।
- हिन्दी भाषा शिक्षण में शब्द का संस्कृत पर्याय चुनने के स्थान पर व्यावहारिक शब्द चयन पर बल दिया जाना चाहिए।

आज तकनीक का युग है अतः शिक्षण में भी इन तकनीकी उपायों का प्रयोग करके हिन्दी शिक्षण को बेहतर बनाया जा सकता है। वैसे भी यदि सैद्धांतिक रूप से ज्यादा भाषा के व्यावहारिक पक्ष पर ज्यादा ध्यान दिया जाए तो शिक्षण सम्बन्धी आयाम शीघ्रता से प्राप्त किए जा सकते हैं। आगामी वर्षों में वैश्विक परिकृश्य निश्चित ही भारत के केंद्रीभूत होगा, ऐसे में हिन्दी का दायित्व और हिन्दी ज्ञान का महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाएगा। निश्चित ही वैश्वीकरण के इस दौर में हिन्दी अपनी अक्षुण्णता को बनाए रखेगी। हिन्दी को तकनीकी माध्यमों द्वारा सरल, रोचक और आकर्षक बनाकर सिखाया जाए तो देश-विदेश में हिन्दी का प्रचार-प्रसार शीघ्रता से किया जा सकता है। हिन्दी शिक्षण का महत्त्व तब और भी बढ़ जाता है जब हिन्दी की लोकप्रियता देखते हुए वेब दुनिया के तमाम सर्च इंजन जैसे - गूगल, याहू आदि ने अपने-अपने हिन्दी संस्करण प्रस्तुत किए हैं और दुनिया की तमाम वेबसाइट तेजी से अपने संस्करण उतारने में लगी हैं। ऐसे में यदि हिन्दी सीखने

सिखाने के विभिन्न अवसर उपलब्ध होंगे तो व्यापक जनसमूह तक हिन्दी की पहुंच हो सकती है।

डॉ. संगीता वर्मा

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग

कमला नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

मोबाइल नं. : 9811917248

ई-मेल: sangeetavermaknc@gmail.com

समृद्धि के प्रतीक शुक्र

खगोल में विद्यमान दुग्ध-मेखला (मंदाकिनी) आकाशगङ्गा में स्थित हमारा सौरमण्डल अद्वितीय है। सूर्य इस सौरमण्डल का मूलाधार एवं केन्द्र बिन्दु है। यह सौरमण्डल का सर्वाधिक दैदीप्यवान् तारा है। सौरमण्डल में बुधादि छह (बुध, शुक्र, पृथ्वी, मङ्गल, बृहस्पति तथा शनि) ग्रह (खगोलशास्त्र में पृथ्वी जबकि भारतीय ज्योतिषशास्त्र में पृथ्वी के स्थान पर चन्द्र) अपनी-अपनी धुरी पर घूर्णनशील होते हुए सूर्य के चारों ओर विद्यमान सीमित ग्रह परिभ्रमण क्षेत्र-भ्रमण में परिभ्रमणशील होते हैं। बुध, शुक्र, पृथ्वी (भारतीय ज्योतिषशास्त्र में पृथ्वी के स्थान पर - चन्द्र), मङ्गल, बृहस्पति तथा शनि इत्यादि ग्रह सूर्य के चारों ओर निरन्तर परिभ्रमण करते हैं तथा चन्द्र अपनी धुरी पर घूर्णनशील होकर पृथ्वी का परिभ्रमण करते हुए सूर्य की परिक्रमा भी करता है। खगोलशास्त्र तथा ज्योतिषशास्त्र के अध्ययन का केन्द्र-पृथ्वी, ग्रहों के इस भ्रमण क्रम में इस प्रकार परिभ्रमणशील है कि इसके एक ओर कुज (मङ्गल) तथा दूसरी ओर शुक्र है। अन्य ग्रहों के समान शुक्र ग्रह भी पृथ्वी तथा इस पर विद्यमान जातकों के जीवन को निरन्तर प्रभावित करता है।

शुक्र सौरमण्डल का सर्वाधिक आकर्षक ग्रह है। 'शुक्र' शब्द एक ग्रह विशेष के नाम के अतिरिक्त दैत्यों के गुरु शुक्राचार्य, ज्येष्ठ मास, अग्नि देव, धातु एवं किसी वस्तु का सार आदि का भी पर्याय है।¹ शुक्र को आङ्ग्ल भाषा² में Venus तथा फ़ारसी भाषा³ में जुलही कहा जाता है। भारतीय ज्योतिष के अन्तर्गत शुक्र ग्रह का वर्णन करते हुए उन्हें बुद्धि, ज्ञान एवं कार्य-कुशलताओं का प्रदाता माना गया है।⁴ सम्पत्ति, वाहन, वस्त्र, आभूषण आदि का सुख, धनकोश, नृत्य-गायन-वादन आदि ललित कला, स्त्रीसुख, सुगन्धि, पुष्प, भवन, धनसम्पन्नता, कवित्व-शक्ति, विलास, मन्त्रित्व, मिष्टवाक् और विवाहोत्सव के प्रतीक⁵ ग्रह शुक्र के भौतिक, पौराणिक तथा ज्योतिषीय स्वरूप का विवेचन इस प्रकार है।

शुक्र : भौतिक स्वरूप

सौरमण्डल में बुध के पश्चात् सूर्य का सबसे निकटवर्ती ग्रह शुक्र है। पूर्वाकाश में सूर्योदय के पूर्व तथा सूर्यास्त के पश्चात् पश्चिमाकाश में सर्वाधिक प्रभासम्पन्न दिखाई देने वाला ग्रह 'शुक्र' है।⁶ यूनानी लोग इसे 'कुप्रिस' और रोमन लोग इसे 'वीनस' नाम से पुकारते हैं। रोम में 'वीनस' को सौन्दर्य की देवी कहा जाता है। अतः शुक्र को अत्यन्त सौन्दर्यशाली ग्रह माना जाता है। शुक्र का कुल व्यासमान

12,100 कि.मी. है तथा इसका पृष्ठीय तापमान 450⁰ सेण्टीग्रेड है। शुक्र का अक्षीय परिभ्रमण काल 243 दिन है तथा 224.7 दिन में यह सूर्य के चारों ओर भ्रमण कर लेता है।⁷ वहीं बी.डी. अवस्थी⁸ के मतानुसार शुक्र 68 घण्टे से लेकर कई सप्ताह में अपना अक्षीय भ्रमण पूर्ण करता है। शुक्र वस्तुतः सौरमण्डल का एक अद्भुत ग्रह है जो अन्य ग्रहों के समान अपना भ्रमण पश्चिम से पूर्व की ओर नहीं अपितु पूर्व से पश्चिम की ओर पूर्ण करता है।⁹ शुक्र ग्रह पर वायुमण्डल का दाब पृथ्वी की अपेक्षा 90 गुणा अधिक है। इसके वायुमण्डल में 96% कार्बनडाइऑक्साइड, 3.4% नाइट्रोजन तथा अल्प मात्रा में कुछ गैसों हैं परन्तु ऑक्सीजन की मात्रा नहीं है। अतः शुक्र ग्रह पर जीवन की सम्भावना नहीं है।¹⁰

शुक्र : पौराणिक स्वरूप

पौराणिक कोश के अनुसार भृगु के पुत्र कवि तथा कवि के पुत्र शुक्र हैं। यहीं इन्हें भृगुपुत्र कहे जाने का उल्लेख भी प्राप्त होता है। ये ही ग्रह होकर तीनों लोकों के जीवन की रक्षा हेतु वृष्टि, अनावृष्टि, भय तथा अभय उत्पन्न करते हैं तथा ब्रह्मा जी की प्रेरणा से सभी लोकों का भ्रमण करते हैं। शुक्र ही योग के आचार्य और दैत्यों के गुरु हुए हैं।¹¹ इसीलिए इन्हें शुक्राचार्य तथा दैत्यगुरु एवं भृगु के वंशज होने के कारण भार्गव नाम से भी जाना जाता है। इनकी पत्नी शतपर्वा, पुत्री देवयानी एवं चार पुत्र - त्वष्टा, वरुत्री, षण्ड और मर्क कहे गए हैं। इन्हें सञ्जीवनी विद्या का ज्ञान था जिसके प्रयोग से यह मृत दैत्यों को पुनः जीवित करने में सक्षम थे।¹² पुराणों में शुक्र के स्वरूप को भी बड़ी सुन्दरता से चित्रित किया गया है। मत्स्यपुराण¹³ में दैत्यगुरु शुक्राचार्य का वर्णन करते हुए कहा गया है कि शुक्र श्वेत वर्ण के हैं तथा इनके चार हाथ हैं। इनका एक हाथ वरद मुद्रा में तथा शेष तीन दण्ड, अक्षमाला और कमण्डलु लिए हुए हैं। इसके अतिरिक्त विष्णुधर्मोत्तरपुराण¹⁴ में भी शुक्र का वर्ण श्वेत तथा इन्हें श्वेत वर्ण के ही वस्त्रों से सुशोभित कहा गया है। इनके दो हाथ कहे गए हैं। वे एक हाथ में निधि और दूसरे में पुस्तक धारण किए हुए हैं। शुक्र के रथ के विषय में विष्णुपुराण¹⁵ में उल्लेख आता है कि वरुथ (रथ के लिए बना लौह-आवरण), अनुकर्ष (रथ का अधोभाग), उपासङ्ग (शस्त्र रखने का स्थान), ध्वजा एवं भूमि से उत्पन्न अश्वों से युक्त शुक्र का रथ है। ब्रह्माण्डपुराण¹⁶ के अनुसार शुक्र का रथ तेज में सूर्य के सदृश है तथा इस रथ के अश्व पृथ्वी से उत्पन्न हैं एवं ये श्वेत, पिशङ्ग, सारङ्ग, नील, पीत, विलोहित, कृष्ण, हरित, पृषत और पृश्निः वर्ण के हैं। स्पष्टतः पुराणों में शुक्र ग्रह का व्यापक उल्लेख प्राप्त होता है।

शुक्र : ज्योतिषीय स्वरूप

सूर्यादि नव ग्रहों में शुक्र एक नैसर्गिक शुभ¹⁷ ग्रह है। यह कालपुरुष का काम (मदन) है।¹⁸ मीनराज¹⁹ ने इनके शुक्र, आस्फुजित्, दैत्यगुरु, सुधामा, काव्य, भृगु, बीजनिधि, प्रणेता, महोशना, संस्मृतिक, कृतज्ञ, कलावितानप्रबल और सुजात्य इत्यादि तेरह नाम बताए हैं। शुक्र स्त्रीग्रह है तथा जल तत्त्व के स्वामी है एवं इनकी स्वामिनी इन्द्राणी है²⁰ जबकि मन्त्रेश्वर ने कहा है कि शुक्र का जलतत्त्व है तथा इनकी अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी है।²¹ पक्ष के अधिप शुक्र अम्ल रस के स्वामी है। शरीर में वीर्य के स्वामी भी शुक्र है।²² कल्याण वर्मा²³ के अनुसार शुक्र सुन्दर रूप, दीर्घबाहु, विशाल हृदय और पुष्टवीर्य, कान्तिमान्, काले घुंघराले सूक्ष्म और लटकते हुए केश, दूर्वाकुर सदृश श्यामल वर्ण, कामी, वात एवं कफ प्रकृति, अतिसौभाग्ययुक्त, चित्रवर्णीय वस्त्र, रजोगुणी, केलिकुशल, बुद्धिमान्, विशाल नेत्र तथा स्थूल कन्धे वाले हैं। शुक्र ग्रह वृष और तुला राशि के स्वामी हैं तथा ये मीन राशि के 27⁰ पर उच्च तथा कन्या राशि के 27⁰ पर नीच होते हैं।²⁴ शुक्र ग्रह के मित्र - बुध एवं शनि, शत्रु - सूर्य एवं चन्द्र तथा समग्रह - मङ्गल एवं गुरु हैं।²⁵

शुक्र ग्रह के शुभाशुभ फल

कुण्डली में नैसर्गिक शुभ ग्रह - शुक्र यदि अपनी राशि से (स्थिति अथवा दृष्टि) सम्बन्ध, दीप्त (उच्चराशिस्थ), स्वस्थ (स्वराशिस्थ), मुदित (अधिमित्रराशिस्थ) अथवा शान्त (मित्रराशिस्थ) आदि शुभ अवस्था, शुभ भाव-भावेशों से सम्बन्ध, शुभ कर्तरी इत्यादि के माध्यम से सबलता भी प्राप्त करते हैं, तो ऐसी स्थिति में ये अतिशुभ सिद्ध होकर सर्वोत्तम फलदायी हाते हैं तथा जातक को इनकी दशा-अन्तर्दशा में इनसे सम्बन्धित शुभ फल अधिकाधिक मात्रा में प्राप्त होते हैं। यथा - महर्षि पराशर के अनुसार यदि शुक्र अपने परम उच्च, उच्च, स्वराशि या केन्द्र में स्थित हों तो उनकी दशा में राज्याभिषेक, वाहन-वस्त्र-आभूषण-गज-अश्वदि का लाभ, नित्य मिष्ठान्न भोजन, सार्वभौम राजा से सम्मान, घर में लक्ष्मी की अनुकम्पा से मृदङ्ग वाद्य-वादनपूर्ण उत्सव होता है।²⁶ यदि शुक्र त्रिकोण में हों तो उनकी दशा में राज्य-धन-गृह का लाभ, गृह में विवाहादि माङ्गलिक कार्य, सन्तति कल्याण, सेनापतित्व, बन्धु-बान्धवों का समागम, घर में गोधन का संग्रह तथा नष्ट राज्य या धन की पुनः प्राप्ति होती है।²⁷ इसके विपरीत शुक्र ग्रह के बल में यदि स्वराशि से (स्थिति अथवा दृष्टि की) असम्बद्धता, दुःखी (शत्रुराशिस्थ), विकल

(पाप ग्रहयुक्त), खल (पाप ग्रह की राशि में स्थिति) अथवा कुपित (सूर्य से अस्त) आदि अशुभ अवस्था, क्रूर भाव-भावेशों से सम्बन्ध, पाप कर्तरी, पाप प्रभाव, अशुभ योगों में संलिप्तता इत्यादि के माध्यम से हास होता है तो ऐसी स्थिति में जातक को शुक्र ग्रह से सम्बन्धित अशुभ फल प्राप्त होते हैं। यथा-कुण्डली में यदि शुक्र 6, 8, 12वें भाव में अथवा नीच राशि में या व्ययेश की राशि में हों तो आत्म बन्धुजनों से द्वेष, पत्नी को पीड़ा, व्यवसाय में हानि, पशु-नाश, स्त्री-पुत्रादि को पीड़ा या अपने बन्धु-बान्धवों का बिछोह होता है।²⁸ अतः व्यक्ति को शुक्र ग्रह की शुभ फलप्रदायक क्षमता में वृद्धि तथा अशुभ फलप्रदायक क्षमता में हास के निमित्त श्रद्धापूर्वक उनका जप, पूजन, दान, अनुष्ठान आदि कार्य विधि-विधानपूर्वक सम्पन्न करने चाहिए।

शुक्र ग्रह पूजन

शुक्र ग्रह से, शान्ति, सम्पत्ति, वृष्टि, आयुर्दाय और पुष्टि की कामना करने वाले व्यक्ति को श्रद्धापूर्वक शुक्र ग्रह से सम्बन्धित जप, पूजन, दान, अनुष्ठान आदि करना चाहिए। इस हेतु सर्वप्रथम श्वेत वस्त्र, श्वेत मालाधारी चाँदी के समान द्युति वाली शुक्र ग्रह की चाँदी धातु की मस्तकाभरणयुक्त तथा अपने अङ्गुल से 108 अङ्गुल उच्च चतुर्भुज प्रतिमा निर्मित करनी चाहिए, जिसके हाथों में दण्ड, अक्षसूत्र, वर तथा कमण्डलु हों। विकल्प के रूप में चन्दन अथवा स्याही से श्वेतवर्णीय वस्त्र पर शुक्र ग्रह की आकृति भी बनाई जा सकती है।²⁹ प्रतिमा अथवा आकृति को उत्तर दिशा में प्रस्थापित करना चाहिए तथा श्वेतवर्णीय पुष्प, वस्त्र, चन्दन, गुग्गुलादि धूप, नैवेद्य एवं उपयुक्त अन्न एवं द्रव्य श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनको अर्पित करने चाहिए।³⁰ गूलर वृक्ष की समिधा, मधु, घृत, दही, दूध तथा चरु के साथ 108 अथवा 28 की संख्या से विधि-विधानपूर्वक हवन-यज्ञ तथा 'अन्नात् परिश्रुतो' इत्यादि वैदिक मन्त्र के 16000 जप शुक्र ग्रह की प्रसन्नता, शान्ति एवं शुभफलप्रदायकता तथा अशुभता के निवारण हेतु करना श्रेयस्कर कहा गया है।³¹ हवन तथा मन्त्रजाप के अनन्तर सुयोग्य ब्राह्मणों को आदर-सत्कारपूर्वक 'घृत-भात' का भोजन परोसकर खिलाना एवं अश्व दान स्वरूप भेंट करना शुक्र ग्रह की शान्ति हेतु उत्तम है।³² इस विधि से अनुपालित जप, पूजन, दान, अनुष्ठान आदि के प्रभाव से शुक्र ग्रह के अशुभफलों में हास होता है तथा जातक को शुक्र ग्रह के श्रेष्ठफलों की प्राप्ति सुनिश्चित होती है।

सन्दर्भ सङ्केत

1. ज्ञा, तारिणीश - संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ. 1161
2. Vaidya, L.R. - The Standard Sanskrit-English Dictionary, p. 722
3. होराशास्त्रम् (बृहज्जातकम्) - 2/3, मिश्र, सत्येन्द्र, पृ. 37 से उद्धृत
4. The remaining planets are propitious, especially Mercury, Venus and Jupiter, in whose hands are the gifts of wisdom and all knowledge and skill.
- Hastings, James - Encyclopaedia of Religion and Ethics, vol. XII, p. 85
5. फलदीपिका - 2/6
6. सूर्यास्तादनन्तरं पश्चिमे सूर्योदयाद् पूर्वं पूर्वाकाशे सर्वाधिकः प्रभासम्पन्नः तारकरूपे शुक्र एव दृष्टिगोचरं भवतीति।
- त्रिपाठी, देवीप्रसाद - भुवनकोश विमर्शः, पृ. 63
7. त्रिपाठी, देवीप्रसाद - ब्रह्माण्ड और सौर-परिवार, पृ. 57-58
8. अवस्थी, बी.डी. - ग्रह और नक्षत्र, पृ. 18
9. त्रिपाठी, देवीप्रसाद - ब्रह्माण्ड और सौर-परिवार, पृ. 56
10. वही, पृ. 56-57
11. शर्मा, राणाप्रसाद - पौराणिक कोश, पृ. 497
12. वही
13. मत्स्यपुराण - 94/5
14. शुक्रः श्वेतवपुः कार्यः श्वेताम्बरधरस्तथा।
द्वौ करौ कथितौ तस्य निधिपुस्तकसंयुतौ।
-विष्णुधर्मोत्तरपुराण - 3/69/5
15. सवरुथः सानुकर्षो युक्तो भूसम्भवैर्हयैः।
सोपासङ्गपताकस्तु शुक्रस्यापि रथो महान्।
-विष्णुपुराण - 2/12/17
16. ब्रह्माण्डपुराण - 1/2/23/81-83
17. बृहत्पाराशरहोराशास्त्रम् - 3/12, 35/8; वृद्ध यवन जातकम् - 2/12
18. बृहज्जातकम् - 2/1
19. वृद्ध यवन जातकम् - 2/6
20. बृहत्पाराशरहोराशास्त्रम् - 3/19-21

21. फलदीपिका - 2/27
22. बृहज्जातकम् - 2/11
23. चारुदीर्घभुजः पृथूरुवदनः शुक्राधिकः कान्तिमान्
कृष्णाकुञ्चितसूक्ष्मलम्बितकचो दूर्वाङ्कुरश्यामलः।
कामी वातकफात्मकोऽतिसुभगाश्चित्राम्बरो राजसो।
लीलावान्मतिमान्विशालनयनः स्थूलांसदेशः सितः॥
- सारावली - 4/26
24. बृहत्पाराशरहोराशास्त्रम् - 3/50-51
25. जातकालङ्कार - 1/10
26. बृहत्पाराशरहोराशास्त्रम् - 48/79-80
27. वही - 48/81-82 (1/2)
28. वही - 48/83-84 (1/2)
29. वही - 85/4-5, 10, 14
30. वही - 85/15-16
31. वही - 85/18-22
32. वही - 85/23, 25

डॉ० मीतू गौण

असिस्टेंट प्रोफेसर (तदर्थ), संस्कृत विभाग

कमला नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

मोबाइल नं. : 9868671532

ई-मेल: meetu.gaur@yahoo.com

संस्कृति और भारतीय समाज

समाज और संस्कृति की यदि बात की जाए तो दोनों में ऐसा गहरा सम्बन्ध है जैसे चोली और दामन का होता है। उनका एक दूसरे के बिना सम्पूर्ण होना कभी सम्भव नहीं। जैसे कोई व्यक्ति समाज के बिना नहीं रह सकता, उसी प्रकार वह समाज के सांस्कृतिक नियमों से परिपूर्ण हुए बिना सम्पूर्ण नहीं माना जाएगा। व्यक्ति अधिकतर समाज में रहकर ही वहां घटित घटनाओं के माध्यम से नित नवीन व्यवहार हर रोज सीखता रहता है। इस प्रक्रिया के दौरान वह समाज द्वारा बनाए गए सांस्कृतिक नियमों का पालन भी बराबर करता रहता है।

भारतीय उपमहाद्वीप में जिस प्रकार हजारों भाषाएं हैं, उसी प्रकार कई संस्कृतियां और समाज भी हैं। ये संस्कृतियां धर्म और जातियों में बंटी हैं। प्राचीन काल से ही ये धर्म और जातियां अपनी संस्कृति को बनाने में लगी हुई हैं। लेकिन भारत का सामाजिक परिवेश अनुकूल है जिससे यहां शांति बनी हुई है। इसे हम विकसित संस्कृति और समाज की विशेषता मान सकते हैं।

संस्कृति का स्वरूप सरिता के समान होता है। पुराना जल बहकर आगे निकलता चला जाता है और नया जल उसका स्थान लेता रहता है। जहां नए जल का आना बन्द हुआ कि पुराना जल अवरुद्ध होकर सड़ांध उत्पन्न करने लगता है। इसलिए जो समाज और संस्कृति समय के साथ गतिशील नहीं है उनका विकास नहीं होता और वे पतनोन्मुख होने लगते हैं या क्रांति का कोई रेला उन्हें ढकेल कर उनके स्थान पर किसी अन्य को प्रतिष्ठित कर देता है।

हमारा देश अत्यन्त प्राचीन है और हमारी संस्कृति भी अत्यन्त पुरानी है। प्राचीन संस्कृति वाले देशों के सामने समस्याएं कुछ दूसरी ही हुआ करती हैं। जिनकी सभ्यता कुछ ही युगों की है, कुछ ही वर्षों की है, नवीन है, उनके पास बहुत कुछ खोने या बदलने को नहीं है और खोने या बदलने से उनकी कुछ हानि भी नहीं होती। किन्तु जहां प्राचीन संस्कृति होती है, वहां जीवन के कुछ मानवीय मूल्य होते हैं, कुछ परीक्षित मूल्य होते हैं और हर नए युग में उनके पुनर्मूल्यांकन की भी मांग होती है, और फिर प्रयोग में उनको तपाना पड़ता है, देखना पड़ता है कि आज के युग में वे कहां ठहरते हैं। इस प्रकार इतने विशाल देश में इतने युगों के उपरान्त जिन मानवीय मूल्यों की स्थापना कर उनकी परीक्षा की, उनका प्रयोग किया, उनको लेकर ही किसी कर्मक्षेत्र में जाया जा सकता है। उन्हें एकाएक बदला नहीं जा सकता।

प्रत्येक संस्कृति की प्रथम इकाई परिवार, द्वितीय समाज, तृतीय नगर, चतुर्थ राष्ट्र तथा पंचम विश्व है। वस्तुतः संस्कृति एकाकी व्यक्ति की न होकर समष्टि की होती है, अतः 'एकोऽहम बहुस्यामः' ही इसका मूल मंत्र है।

'पुरुष सूक्त' में पहली बार हिन्दू समाज के चार वर्गों में विभाजन का संकेत मिलता है, परिवार को इकाई माना गया है और व्यक्ति का कर्तव्य यह भी बतलाया गया है कि वह परिवार के प्रत्येक सदस्य के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करे। इससे स्पष्ट है कि वैदिक नीति संहिता धार्मिक के साथ-साथ सामाजिक भी है। 'वेद चतुष्टय' नाम से प्रसिद्ध अपौरुषेय ग्रंथों - ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में मानव जाति को आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखों से मुक्त किया है। इन्होंने लोगों की आध्यात्मिक चेतना जगाई है और मानव जाति के अभ्युदय के मार्ग को प्रशस्त किया है।

गृहस्थाश्रम भारतीय समाज का मेरुदण्ड कहा जाता है, अन्य आश्रमों की स्थिति गृहस्थाश्रम पर ही निर्भर करती है। अतः गृहस्थाश्रम भारतीय संस्कृति और सभ्यता का आधार बिन्दु कहलाता है। नैतिकता, सदाचार व सद्व्यवहार संस्कृति और सभ्यता के प्राणाधार हैं जो मानवीय गुणों की अभिवृद्धि कर मानव को समाजोचित कृत्यों को सम्पादित करने की योग्यता प्रदान करते हैं। यजुर्वेदीय मंत्र में कहा गया है - 'तू पृथ्वी पर रहने वाली प्रजा की सुसेवा, मानव जाति के अभ्युत्थान तथा संस्कृति और सभ्यता की रक्षा के लिए कटिबद्ध रहे।' इससे यह स्पष्ट होता है कि परिवार ही व्यक्ति समाज और राष्ट्र का आधार है। उसकी सुव्यवस्था शान्ति और उन्नति पर ही व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उन्नति निर्भर करती है।

वैदिक महर्षियों ने कर्तव्य और निष्ठा से अनुप्राणित पारिवारिक जीवन को सुसभ्य समाज का मापदण्ड निश्चित किया है। अतः प्राणीमात्र में कौटुम्बिक भावना की अभिवृद्धि ही व्यक्ति के समाजिकीकरण का मूलाधार है। भारतीय आचार नीतियों एवं मानवीय मूल्यों का स्पष्ट रूप रामायण एवं महाभारत जैसे महाकाव्यों में दृष्टिगोचर होता है। इन महाकाव्यों ने भारतीय जन जीवन को प्रभावित किया है। रामायण अपने काल के विश्वासों और रिवाजों का चित्रण करता है। यह अपने विभिन्न पात्रों के द्वारा उस युग के आदर्शों को व्यक्त करता है। रामायण के अनुसार मोक्ष सर्वोच्च आदर्श है। इसमें ज्ञान और कर्म के अतिरिक्त भक्ति को भी मोक्ष का साधन माना गया है। महाभारत को पांचवां वेद कहा गया है। यह ऐसा युग था जिसमें नए विचारों का पुराने विचारों से समन्वय हो रहा था। रामायण के समय से

महाभारत के समय में लोगों के हृदयगत भाव में कितना अन्तर आ गया था कि रामायण में दो भाई इस बात के लिए विवाद कर रहे थे कि यह समस्त राज्य और राज्य-सिंहासन हमारा नहीं है यह सब तुम्हारे हाथ में रहें, अन्त में रामचन्द्र भरत को विवाद में पराभूत कर समस्त साम्राज्य उनके हस्तगत कर सस्त्रीक वनवास चले गए। वहीं महाभारत में दो दामाद भाई इस बात के लिए विवाद करने पर सन्नद्ध हुए कि जितने सुई का अग्रभाग ढंक जाए इतनी पृथ्वी भी बिना युद्ध के हम न देंगे “सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन केशव।” महाभारत में नैतिक आदर्शों मानवीय मूल्यों का आधार मनोवैज्ञानिक था। इनके अनुसार सभी को सुखों की चाह है और दुःखों से घृणा, परन्तु यह संसार सुख-दुःख मिश्रित है और ये दोनों अनित्य हैं।

महाभारत के उपरान्त भारत और ही हो गया। इसकी दशा में काफी परिवर्तन हो गया। बौद्ध और जैन धर्मों ने ईश्वर, वर्ण, आश्रम, वेद आदि सभी प्राचीन विश्वासों पर प्रश्न चिह्न खड़े किए, वैदिक यज्ञों का विरोध किया, ईश्वर की सत्ता से इन्कार किया और वर्ण व्यवस्था को अस्वीकार कर दिया। वैदिक लोग आत्मा को अजर-अमर मानते थे, पुनर्जन्म में विश्वास करते थे। किन्तु बौद्धों ने इन दोनों बातों का खण्डन किया। इसी काल में भारत का विदेशों के साथ सम्बन्ध बढ़ा। सिकन्दर का आक्रमण हुआ। चन्द्रगुप्त मौर्य ने भारत को संगठित कर एक सूत्र में बांधा। सैन्य शक्ति तथा शासन व्यवस्था में इस समय भारत जितना सुदृढ़ था वैसा पहले कभी नहीं रहा। इसी समय कौटिल्य ने अर्थशास्त्र पर अपने विश्व प्रसिद्ध ग्रन्थ की रचना की। भूमि बन्दोबस्त, जनगणना, सिक्कों की वैज्ञानिक ढलाई, नाप-तौल की व्यवस्था, दण्ड-विधान आदि की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। गणित और ज्योतिष के ज्ञान में विस्तार हुआ। शून्य और दशमलव का ज्ञान सारे विश्व को भारत से प्राप्त हुआ। संख्याओं का ज्ञान भी विश्व को भारत से ही मिला। भारत में यह काल सांस्कृतिक उन्नति की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण था। इसी काल में चिकित्सा और आयुर्वेद पर बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गए। इस समय सम्राट अशोक के प्रभाव से बौद्ध धर्म खूब फला-फूला। अहिंसा, करुणा, सत्य जैसी बातों पर बहुत बल दिया गया। पाणिनी, पतंजलि जैसे महान वैयाकरणों ने देश के एक कोने से दूसरे कोने तक की भाषा को एक सूत्र में बांधा।

इसके बाद शुंग वंश का साम्राज्य स्थापित होने पर वैदिक संस्कृति की विजय की दुन्दुभि का घोष फिर सुनाई देने लगा। वर्णाश्रम व्यवस्था और यज्ञादिक, कर्मकाण्डों का प्रभाव बढ़ा। इसी युग में भरत के ‘नाट्यशास्त्र’ और वात्स्यायन के कामसूत्र की रचना हुई।

शको और हूणों आदि विदेशियों के आक्रमणों से भारत की सामाजिक और सांस्कृतिक स्थितियों में परिवर्तन आया। तब विषम आचरणों से समाज को बचाने के लिए आचार्यों ने वर्णव्यवस्था के नियम कड़े कर दिए। कर्म के स्थान पर जन्म से वर्ण का निर्णय किया गया। स्त्रियों को विदेशियों की दृष्टि से बचाने के लिए उन्हें पर्दे में रखा जाने लगा। उन्हें उच्च शिक्षा से वंचित रहने को बाध्य होना पड़ा। इससे उनमें अन्धविश्वास पनपने लगा और वे पुरुषों की आश्रिता बन गईं। शूद्रों को भी नीची दृष्टि से देखा जाने लगा।

चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य का काल भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग माना जाता है। इस काल में कालिदास जैसे महान साहित्यकार ने अमर रचनाएं प्रस्तुत कर काव्यों और नाटकों के माध्यम से भारतीय संस्कृति को शिखर तक पहुंचा दिया। हर्षवर्द्धन के समय तक भारत धन-धान्य, साहित्य, कला, दर्शन और सैन्य-शक्ति से समृद्ध बना रहा और किसी न किसी रूप में संगठित रहा।

11वीं शताब्दी से भारत पर विदेशी शासकों की काली छाया मंडराने लगी। इससे सांस्कृतिक मान्यताओं को गहरा धक्का लगा। आक्रमणकारी यहां की सम्पत्ति को लूटते, लोगों को सताते उन्हें पकड़ कर दास बनाते थे।

15वीं शताब्दी के करीब मुगल राजाओं का शासन देश में स्थापित हो गया। इस युग में इस्लाम और हिन्दू संस्कृति ने एक-दूसरे से बहुत कुछ ग्रहण किया। उत्तर भारत की संस्कृति पर इस्लाम का गहरा प्रभाव पड़ा था। भारत की जनता के मन में निराशा व्याप्त थी। ऐसे समय में भक्त संतों का अवतरण हुआ। नानक, कबीर, चैतन्य महाप्रभु, तुकाराम, रामदास, सूरदास, तुलसीदास जैसे संतों, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य जैसे दार्शनिकों और गोस्वामी सम्प्रदाय ने रामभक्ति और कृष्ण भक्ति की नई धारा बहकर जनता में भक्ति रस का संचार किया। इन राम एवं कृष्ण भक्तों ने बाह्याडम्बरों का विरोध कर मानवीय, नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों को बढ़ावा दिया।

17वीं शताब्दी से ईसाइयों का आना प्रारम्भ हुआ। लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक अंग्रेजों का शासन भारत पर रहा। इन सबके सम्पर्क का प्रभाव हमारी संस्कृति पर पड़ना स्वाभाविक था।

भारत में सामाजिक, सांस्कृतिक स्तर पर बड़े बदलावों की शुरुआत अंग्रेजों के आने के बाद हुई। समाज में चले आ रहे धार्मिक अंधविश्वास, भेद-भाव, छुआ-छूत,

सतीप्रथा, बाल-विवाह जैसी सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध विभिन्न स्तरों पर होने वाले सामाजिक सुधार आन्दोलन इस दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रहे थे।

आजादी के बाद व्यक्ति के मौलिक अधिकारों पर बल देते हुए पंथनिरपेक्ष समाजवादी लोकतंत्र की संकल्पना के साथ संविधान लागू कर सरकार द्वारा जो कद उठाए गए उसने जातीय संघर्षों को जन्म दिया। शिक्षा के प्रचार-प्रसार से जहां एक ओर सामाजिक स्तर पर एक भिन्न परिदृश्य का निर्माण हुआ, जिसमें आधुनिकता, वैज्ञानिक-दृष्टि, यथार्थबोध आदि को महत्त्व मिला वहीं दूसरी ओर सांस्कृतिक स्तर पर भी कई परिवर्तन हुए। उदारीकरण और भूमंडलीकरण ने वैज्ञानिक प्रगति की बागडोर थाम कर उपभोक्तावादी संस्कृति को बढ़ावा देते हुए पूरे विश्व को एक बाज़ार में तब्दील कर दिया। इससे बाज़ारवादी संस्कृति को प्रोत्साहन मिला और मूल्यों का विघटन होने लगा। समाज की इकाई होने के कारण इस सामाजिक परिवर्तन का प्रभाव पारिवारिक संरचना पर भी पड़ना लाजिमी है किन्तु भारत एक विशिष्ट देश है। विश्व की समस्त संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति सर्वोत्तम है क्योंकि यह आदर्शों और आध्यात्मिक चेतना से आज भी प्रेरित और परिचालित है।

भारतीय संस्कृति समन्वयमूलक है। यहां विभिन्न जाति, धर्म, पंथ और सम्प्रदाय के लोग हैं जिन्हें संविधान में समान अधिकार प्राप्त है। इस समन्वय भाव में ही भारतीय संस्कृति और समाज पर सौन्दर्यशास्त्र निहित है, जिससे सहिष्णुता, आपसी सौहार्द, एकसूत्रता में बंधे रहने की प्रवृत्ति तथा सकारात्मक दृष्टि में हमेशा वृद्धि हुई है। बाज़ारवादी संस्कृति तथा कट्टरतावादी नकारात्मक मजबूत प्रहारों के उपरांत भी भारतीय समाज और संस्कृति की यह समन्वयवादी विशिष्टता आज भी विद्यमान है। जिससे विश्व में भारत की और अलग पहचान है, जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता है।

संदर्भ ग्रंथ - सूची

1. भारतीय परिवेश में भाषा, समाज, संस्कृति और शिक्षा का अन्तः सम्बन्ध - कांबले प्रकाश, सुमेध हाडके Prakashplog.google.blogspot.in
2. प्राचीन भारतीय संस्कृति और समाज : आचार्य डॉ. प्रभुदयाल अग्निहोत्री, ईस्टर्न बुक लिंकर्स प्रकाशक, प्रथम सं. 2000
3. भारतीय संस्कृति के स्वर : महादेवी वर्मा, राजपाल एण्ड सन्जु, सं. 2011

4. पूर्व-मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति: रामशरण शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं. 1996
5. प्रतियोगिता दर्पण, हिन्दी मासिक, सितम्बर 2014
6. धर्म, समाज और संस्कृति : प्रो. कृष्ण मोहन श्रीमाली, ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली-110092 से प्रकाशित, प्रथम संस्करण 2005
7. संस्कृति के चार अध्याय: रामधानी सिंह 'दिनकर', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, नवीन संस्करण-1999
8. वाक्सुधा, अन्तर्राष्ट्रीय त्रैमासिक शोध-पत्रिका, वर्ष-1, अंक-2, मई-जुलाई-2014
9. प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता: डी.डी. कोसाम्बी, राजकमल प्रकाशन (प्राइवेट) लिमिटेड, दिल्ली, प्रथम हिन्दी संस्करण 1969
10. भूमंडलीकरण साहित्य, समाज और संस्कृति: संपादक - डॉ. शशिभूषण कुमार 'शशि', ऐक्सिस बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2013

श्रीमती कान्ति मीना

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग

कमला नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

मोबाइल नं. : 9250927713

ई-मेल: kantisulaniya15@gmail.com

सहजीवन: आज की स्त्री

समकालीन साहित्य में स्त्री स्वर सिर्फ एक नया मुहावरा नहीं, बल्कि सम्पूर्ण साहित्य में नवजागरण के उन्मेष की भाँति संचरित है। स्त्री स्वर के मूल बिन्दुओं में स्त्री की चिंता, समस्या शोषण और अस्मिता की खोज सतत् जारी है। नारीवाद जैसी सरल साधारण चेतना के बारे में अधिकांश लोगों की धारणा नकारात्मक अधिक होती है। वास्तव में राजनैतिक, अर्थनैतिक, सामाजिक और मानवीय समता का पक्षधर होना ही नारीवाद है। नारी स्वाधीनता का मतलब 'सेक्स स्वाधीनता' भी है इस मूलभूत सत्य को लोग एक जुमले की तरह उछालते हैं। जिसके पीछे व्यंग्य की पैनी धार समाहित होती है। वह लोग यह भूल जाते हैं कि स्त्री सिर्फ देह नहीं, देह से परे भी कुछ है या उसकी देह पर उसका पूर्ण अधिकार है। साहित्य में इतने अर्से से पुरुषों ने नारी शरीर के बारे में बहुत कुछ लिखा है लेकिन नारी शरीर को लेकर नारी को लिखने का हक नहीं था। नारी दिल के बारे में लिख सकती थी शरीर के बारे में नहीं। लेकिन समकालीन साहित्य में महिला लेखिकाएँ ममता कालिया, मृदुला गर्ग, लता शर्मा, मैत्रेयी पुष्पा, गीतांजलिश्री, सूर्यबाला, दलित रचनाकार रजनी तिलक और सुजाता पारमिता तथा आदिवासी लेखिकाएँ निर्मला पुतुल, ग्रेस कुजुर, सुशीला टॉकभौरे आदि नारी के स्वतंत्र अस्तित्व की वकालत करने वाली प्रमुख लेखिकाएँ एवं कवयित्रियाँ हैं। निर्मला पुतुल जब प्रेम, घर और जाति से अलग एक ऐसी जमीन की तलाश करती हैं जो नितान्त उसकी अपनी ही तो सदियों से दबी पीड़ाएँ कुंठाएँ विस्फोटित हो जाती हैं

बता सकते हो तुम
एक स्त्री की दृष्टि से देखते
उसके स्त्रीत्व की परिभाषा
अगर नहीं तो
फिर क्या जानते हो तुम
रसोई और बिस्तर के
गणित से परे
एक स्त्री के बारे में.....1

समकालीन साहित्य में महिला लेखिकाएँ कवयित्रियाँ पुरुष के घेरे से बाहर निकल कर नारी की 'सेक्स स्वाधीनता'

पर आधिकारिक रूप से लिख रही हैं। वास्तव में यह पूर्ण सत्य है कि जिस नारी की देह उसके अधिकार के बाहर चली जाती है वह किसी भी तरह स्वाधीन नहीं कही जा सकती। शिक्षित और स्वनिर्भर होने के बावजूद इस तरह की नारियाँ मानसिक रूप से गुलाम बनी रहती हैं। 'सेक्स स्वाधीनता' का मतलब यहाँ कई पुरुषों के साथ संबंध बनाने की स्वतंत्रता नहीं है, बल्कि अपनी इच्छा के बाद ही संबंध स्थापित करने की स्वतंत्रता है फिर चाहे वह वैवाहिक बंधन में हो या बिना विवाह किए। इच्छा न होने पर संबंध से इंकार भी 'सेक्स स्वाधीनता' के अन्तर्गत ही आता है यह शायद कम लोग ही मानते या समझते हैं। इसीलिए समकालीन समाज में 'लिव इन रिलेशनशिप' का बहुतायत में प्रचार और स्वीकार हो रहा है। विवाह नामक संस्था के स्थायित्व तथा भारतीय समाज में उसकी महत्ता को धता बताते ये संबंध आधुनिक समाज की उन परिवर्तित सच्चाइयों को उजागर करते हैं जिनको हमारा समाज आज भी सहज ढंग से स्वीकार नहीं कर पाता।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता के चलते 'लिव इन रिलेशनशिप' को पाश्चात्य सभ्यता की देखा-देखी काफी प्रोत्साहन दिया जा रहा है, क्योंकि यह बिना जिम्मेदारी के साथ रहते हुए, आसानी से अलग हो जाने की सहमति से जुड़ा है जो आजकल युवाओं को बहुत सुविधाजनक महसूस हो रहा है यह जीवन जीने का अपना तरीका है सही भी हो सकता है और गलत भी। शरद सिंह 'कस्बाई सिमोन' उपन्यास के माध्यम से 'लिव इन रिलेशनशिप' में एक स्त्री की स्वतंत्रता और स्थिति की खोज करती है। उपन्यास के माध्यम से स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज में स्त्री स्वतंत्रता और पुरुष स्वतंत्रता के अलग-अलग पर्याय हैं। जहाँ एक पुरुष के लिए 'लिव इन रिलेशनशिप' जैसे संबंधों पर कोई प्रतिक्रिया नहीं होती, वहीं एक स्त्री अगर अपने अनुसार अपना जीवन जीना चाहे तो वह शारीरिक, मानसिक व सामाजिक दृष्टि से प्रताड़ना की शिकार होती है वास्तव में भारतीय समाज में मनुष्य हित के अन्तर्गत जिस सामाजिक हित की बात की जाती है वह सिर्फ पुरुष हित का ही पर्याय है वहाँ स्त्री हित सदैव गौण है। भारतीय समाज में हमेशा सार्वजनिक तौर पर उस स्त्री को अपमानित किया जाता है जो अपनी इच्छा से अपना जीवन जीना चाहती है और पुरुष की दासी या वेश्या बनने से इंकार करती है।

शरद सिंह 'कस्बाई सिमोन' के माध्यम से छोटे कस्बे में अपना जीवन जीने वाली सुगन्धा के संघर्ष को समाने रखने का प्रयास करती है। समाज के दोहरेपन के

कारण सुगन्धा के व्यक्तिगत निर्णय धीरे-धीरे समझौते करने लगते हैं क्योंकि हमारे मन मस्तिष्क में परम्पराएँ इस तरह ढूँस-ढूँस कर भर दी जाती हैं कि उसमें अच्छे-बुरे को छँटने की कला हम भूलते जा रहे हैं यहाँ बंद दरवाजों के पीछे बनने वाले प्रतिकूल रिश्ते मान्य हैं खुली सड़क पर बनने वाले अनुकूल रिश्ते नहीं। हम जिस माहौल में रह रहे हैं वह निश्चित रूप से संकीर्ण मानसिकता वाला है। जहाँ एक पुरुष एक स्त्री को कभी स्वतंत्रता का अधिकार नहीं देना चाहता। भारतीय समाज में आज भी एक कस्बाई स्त्री को अपनी इच्छानुसार संबंध बनाकर सम्मानपूर्वक रह पाना संभव नहीं, जबकि पति रूपी पुरुष के साथ होने पर अवैध संबंध भी वैध बन जाते हैं। उपन्यास में सुगन्धा की दोस्त कीर्ति समाज के इस दोगले चरित्र को हमारे सामने लाती है -

“सदाशिव के रूप में एक पुरुष आदमी रूप से मेरे साथ है जो मेरे अस्थायी संबंधों पर पर्दा डाले रहता है।”²

बिना शादी किए किसी के साथ रहने की कल्पना आज के युवाओं का रोमांचित कर रही है। इसमें उन्हें अपनी स्वतंत्रता दिखाई देती है लेकिन सच्चाई तो यह है कि बंधन में न बंधकर कभी भी मुक्त होने की स्वतंत्रता वास्तव में जीवन में कोई सुरक्षा भी प्रदान नहीं करती क्योंकि हमारे संविधान में ‘लिव इन रिलेशनशिप’ में रहने वाले लोगों के लिए कोई कानूनी अधिकार नहीं दिए गए हैं। जमीन, जायदाद, बच्चे आदि के संबंध में कोई भी कानूनी दावा इस तरह के संबंधों में नहीं किया जा सकता। इन संबंधों में कई बार स्त्रियाँ चालाक पुरुषों द्वारा ठगी भी जाती हैं। उनके चरित्र पर उंगली उठाई जाती है उन्हें सहजीवन साथी का दर्जा न देकर ‘रखी हुई औरत’ ‘खेली खाई औरत’ के नामों से पुकारा जाता है।

इन संबंधों को लेकर एक महत्त्वपूर्ण पहलू तब उजागर होता है जब इस तरह के सम्बन्धों पर सामाजिकता हावी होती है और ‘लिव इन रिलेशनशिप’ की स्वतंत्रता की गवाही देने वाला पुरुष ही अपने संबंधों को अवैध घोषित कर स्त्री को प्रताड़ित करने लगता है। वह बार-बार उसे अपमानित करने के लिए उसकी स्वतंत्रता को निशाना बनाता है। उस पर बंधन मुक्त होने का आरोप लगाकर उसकी स्वतंत्रता का हनन करना चाहता है। यद्यपि ‘लिव इन रिलेशनशिप’ में वह भी उतना ही स्वतंत्र होता है जितनी की एक स्त्री, लेकिन फिर भी पुरुष का घायल अहंकार स्त्री की स्वतंत्रता से तिलमिला उठता है।

“इसका मतलब तो ये हुआ कि कई पुरुषों के साथ संबंध स्थापित करने के लिए स्त्री स्वतंत्रता का ढोल पीटा जाता है।”³

‘लिव इन रिलेशनशिप’ के संबंधों में इसलिए यह बहुत आवश्यक हो गया है कि स्त्री को सुरक्षा देने के लिए भारतीय संविधान व कानून में परिवर्तन अवश्य होना चाहिए। वास्तव में शरद सिंह का यह उपन्यास ‘लिव इन रिलेशनशिप’ की वकालत करने के लिए नहीं बल्कि समाज में बदलाव के संकेत महसूस करते हुए लेखिका स्त्री पुरुष की समान स्वतंत्रता पर बल देती है क्योंकि वह मानती है कि स्त्री पुरुष को असीमित छूट देती है इसी छूट का लाभ उठाते हुए पुरुष बराबरी का सबक भूल जाता है। वह स्त्री देह पर पुरुष के वर्चस्व का सबक दोहराता जाता है जैसे यदि प्रकृति ने स्त्री को गर्भ धारण करने की क्षमता प्रदान की है तो वही चिंता करे गर्भ न ठहरने की पुरुष को अपने आनंद में व्यवधान नहीं चाहिए। इसलिए बिना विवाह किए एक साथ रहने की मानसिकता में तो पुरुष आया है लेकिन इसके आगे बच्चा पैदा करने की मानसिकता व जिम्मेदारी से वह कोसों दूर रहना चाहता है। स्त्री का अपनी देह पर पूर्ण अधिकार है यह सोचने और मानने की आज पुरुष को बहुत आवश्यकता है। वह भी संबंधों में उतनी ही स्वतंत्रता चाह सकती है जितना कोई पुरुष इसी स्वतंत्रता के अर्जन में उपन्यास की नायिका निरन्तर संघर्षरत है वह हार नहीं मानेगी फिर संकीर्ण परम्पराओं वाली पुरुष प्रधान मानसिकता कितना ही चीखे चिल्लाए।

संदर्भ:

1. अपने घर की तलाश में, मिर्नला पुतुल, सं. रमणिका फाउंडेशन, पृ. 2
2. कस्बाई सिमोन शरद सिंह - सामयिक प्रकाशन, पृ.
3. कस्बाई सिमोन शरद सिंह सामयिक प्रकाशन, पृ. 121

डॉ. भारती

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग

कमला नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

मोबाइल नं. : 9811599257

ई-मेल: bhartiknc1@gmail.com

पाश्चात्य आलोचकों की दृष्टि में तुलसीदास

“तुम्हें तीन सौ वर्ष हुए, यह
इतिहासज्ञ बताते,
अपने बीच किन्तु तुमको हम
वर्तमान हैं पाते
आगे भी यदि इसी भूमि पर
जन्म कहीं पावेंगे,
तो निश्चय है हम अवश्य ही तुम्हें यहीं पावेंगे।”¹

उपरोक्त पंक्तियाँ सियारामशरण गुप्त ने तुलसीदास के संबंध में लिखा है। तुलसीदास भक्तियुग और रीति-युग यहाँ तक की (20वीं सदी) आधुनिक युग के जययात्रा को पार करके आज भी 21वीं सदी में हमारे लिए उसी तरह सर्वश्रेष्ठ और प्रासंगिक कवि बने हुए हैं जैसे पहले थे। ऐसे ही कवि विश्व कवि कहलाने लायक होते हैं जो अपने इतिहास के काल विशेष और भाषा विशेष में बँधकर नहीं रहते बल्कि लगातार नई पीढ़ियों को अपने काव्य का आनंद और आत्मलाभ देते रहते हैं। उनका काव्य नए युग के लिए नए मूल्यों तथा नई अभिरुचियों की सृष्टि करता है। इसलिए बार-बार उनकी कृति का मूल्यांकन करना संभव और रुचिकर होता है।

तुलसीदास पर आधुनिक ढंग से मूल्यांकन तब से आरंभ होता है जब से पाश्चात्य अध्येताओं की दृष्टि भारतीय धर्म संस्कृति और परंपरा पर गई। ब्रिटेन के एच.एच. विल्सन के शब्दों में - “पूर्वी साम्राज्य” के निवासियों के धार्मिक विश्वासों को समझना चाहते थे, दूसरी ओर भारतीय जनता में ईसाइयत को अधिक ग्राह्य बनाने के लिए भारतीय परंपरा में ईसाइयत से मिलते-जुलते तत्त्वों का अनुसंधान करना चाहते थे।² विलसन भी इस मानस को समझना चाहते थे। लेकिन समझने की इस प्रक्रिया में उन अध्येताओं की अपनी मूल्यदृष्टि की भूमिका ही निर्णायक थी।

तुलसी सम्बन्धी प्रथम समीक्षा पाश्चात्य विद्वान ‘विल्सन’ ने प्रस्तुत की। 1831 ई. में उनका लेख ‘ए स्केच ऑफ द रिलीजस सेक्ट्स ऑफ द हिन्दूज’ एशियाटिक रिसर्च नामक जर्नल’ में प्रकाशित हुआ। जिसमें भारत के विभिन्न धर्मों के संदर्भ में तुलसी के जीवन-वृत्त एवं उनके धार्मिक विचारों के बारे बतलाया गया। विल्सन ने तुलसी के जीवन संबंधी सामग्री जनश्रुति के आधार पर प्राप्त की है ऐसा प्रतीत

होता है। तुलसी संबंधी पूर्व-प्रचलित जनश्रुतियों को लिपिबद्ध करने का महत्त्वपूर्ण काम विल्सन ने किया।

विल्सन के आठ वर्ष बाद फ्रांस के प्रसिद्ध साहित्य इतिहास लेखक 'गार्सा-द-तासी' ने अपने ग्रंथ 'इस्त्वारदलालितरेत्यूर एंडुई एन्दुस्तानी' (सन् 1839) में तुलसी से सम्बन्धित सामग्री प्रस्तुत की। सर्वप्रथम इन्होंने ही ऐतिहासिक संबंध का निर्वाह करते हुए भारतीय साहित्यकारों के जीवन-वृत्त और उनकी कृतियों पर यथोचित प्रकाश डाला है।

तासी ने तुलसी की भाषा पर भी विचार करना जरूरी समझा। उनका मानना है "रामायण पूर्वी भाषा या हिन्दुई या हिन्दी की बोलियों से सबसे अधिक परिष्कृत ब्रज की बोली में लिखी गई है। तुलसीदास की सभी कृतियों को भारत में अत्यधिक ख्याति प्राप्त है। ऐसा मत विल्सन महोदय का भी है कि ये संस्कृत रचनाओं की अनेक पोथियों से अधिक हिन्दू जनसमाज को प्रभावित करती है।"³

इसी में आगे उन्होंने लिखा है -

"तुलसीकृत रामायण भारतवर्ष के सबसे अधिक पढ़े जाने वाले और सबसे अधिक प्रिय ग्रंथों में से एक है। यद्यपि सामान्यतः लोग इसकी सूक्ष्मता का कारण तथा उनके प्राचीन रूपों को कम समझते हैं, वे उसे प्रायः 'तुलसी ग्रंथ' तुलसी की पुस्तक समझते हैं।"⁴

तुलसी का 'मानस' केवल साहित्यिक ग्रंथ के रूप में ही प्रचलित है ऐसा नहीं है इसमें कोई संदेह नहीं कि उसे एक धर्म ग्रंथ के रूप में सबसे अधिक प्रतिष्ठा मिली। हिन्दू समाज में सबसे अधिक प्रभावी 'वेद' है। 'मानस' भी 'वेद' की तरह ही सर्वोत्तम धार्मिक और भक्तिपरक कृति के रूप में मानी जाती है। आज भी हमारे गाँवों में निरक्षर लोगों की कमी नहीं है, पर ऐसा नहीं कि उनका साहित्य और संस्कृति से कोई संबंध ही नहीं होता। वे मौखिक परंपरा से श्रुति और स्मृति के सहारे साहित्य और संस्कृति से जुड़े होते हैं। ग्रियर्सन ने तुलसीदास के महत्त्व और सामाजिक जीवन में उनकी विचारधारात्मक उपस्थिति के बारे में लिखा है कि - "भारतीय इतिहास में तुलसीदास का महत्त्व किसी अत्युक्ति की अपेक्षा नहीं रखता।... तीन-तीन सौ वर्षों से भी अधिक वर्षों से यह कृति हिन्दू जनता के जीवन चरित्र और वाणी में अनुस्यूत रही है और मात्र काव्य सौन्दर्य के लिए सर्वप्रिय एवं प्रशंसित ग्रंथ नहीं है, बल्कि उनके द्वारा पूजित भी है और उनका धर्म ग्रंथ हो गया है।"⁵

तासी ने तुलसी के जीवन-वृत्त के अतिरिक्त जो महत्त्वपूर्ण काम किया, वह था 'मानस' की लोकप्रियता पर विचार करना तथा उसकी भाषा को परिष्कृत हिन्दुई या पूर्वी भाषा घोषित करना इसके साथ ही कवि की विभिन्न कृतियों का उल्लेख करना। जिनमें 'मानस' के अतिरिक्त 'सतसई', 'रामगानावली', 'विनय पत्रिका', 'रामजन्म', 'राम श्लाका', 'जानकी मंगल', 'पंचरत्न', 'रुक्मिणी स्वयंवर' आदि को प्रमुख माना है। तुलसी-समीक्षा को गहन समीक्षात्मक मूल्यां की ओर ले जाने का महत्त्वपूर्ण काम तासी ने किया। लेकिन तुलसी के जीवन से संबंधित मान्यताओं के बारे में विल्सन की तरह इन्होंने भी कोई साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया है। यह उनकी समीक्षा का कमजोर पक्ष माना जा सकता है।

पाश्चात्य समीक्षकों की परंपरा में तासी के बाद 'एफ.एस. ग्राउज' का नाम आता है जो 'मानस' के प्रथम आंग्ल अनुवादक भी हैं। उनका ग्रंथ 'रामायण ऑफ तुलसीदास - ए स्पेसीमेन ट्रान्सलेशन' सन् 1876 में प्रकाशित हुआ। इस अनुवाद के साथ एक विस्तृत भूमिका 'प्रोलॉग टु द रामायण' के रूप में प्रस्तुत की गई।

जिसमें कवि की जीवनी के अलावा 'वाल्मीकि रामायण' एवं 'मानस' का तुलनात्मक अध्ययन करके मौलिक विचार भी दिया गया। तुलनात्मक अध्ययन का बीजारोपण हम यहाँ से मान सकते हैं। 'वाल्मीकि रामायण' एवं 'मानस' के तुलनात्मक अध्ययन के बाद ग्राउज महोदय ने बिल्कुल सही निष्कर्ष निकाला कि तुलसी का 'मानस' वाल्मीकि रामायण का अनुवाद मात्र नहीं है। ग्राउज से बहुत पहले नाभादास ने तुलसीदास की महिमा वाल्मीकि के समान ही मानी थी। 'भक्तमाल' में उन्होंने लिखा है-

“त्रेताकाव्यनिबंध करी शतकोटि रामायण।

इक अक्षर उद्धरे ब्रह्महत्यादि परायण॥

अब भक्तन सुख देन बहुरि लीला विस्तारी।

रामचरणर समत्त रटत अहनिशि व्रतधारी॥

संसार पार के पारको, सुगम रूप नौका लयो

कलि कुटिल जीवनिस्तारहित, वाल्मीकि तुलसी भयो॥”⁶

नाभादास ने तुलसी और वाल्मीकि को एक समान माना है लेकिन वाल्मीकि 'रामायण' और तुलसी के 'मानस' में अंतर है। इन दोनों में भाषा, संरचना, संवेदना आदि धरातलों पर यह अंतर देखा जा सकता है।

“वाल्मीकि ने जिसे संक्षिप्त रूप में कहा है उसे तुलसी में विस्तार मिला है और जहां संस्कृत का कवि अधिक वर्णन में प्रवृत्त हुआ है वहां तुलसी ने संकेत मात्र किया है।”⁷

तुलसी को मार्मिक स्थलों की पहचान थी, उन्हें पता था कि किसका विस्तार करना है और किसे छोड़ना है। ‘मानस’ में प्रस्तुत आदर्श पात्रों के चरित्रोद्घाटन की दिशा में इन्होंने व्यापक मार्मिक तथ्य की पहचान की, यह इसका उदाहरण है। क्योंकि वे लोकभाषा में कविता करने वाले पहले कवि नहीं हैं बल्कि उनसे पहले सूरदास और सूरदास से पहले जायसी लोक-भाषा में कविता कर चुके थे। सबसे विशिष्ट बात यह है कि तुलसीदास को मार्मिक स्थल की गहरी पहचान थी। वे भारतीय जनता की संवेदना को बखूबी जानते थे। कौशल्या का एक चित्र है, ‘लै उछंग कबहुँक हलरावै कबहुँक पालने घालि झुलावै’, यह माँ का बच्चे के प्रति स्नेह भरा सच्चा आनंद भाव है। राम ने जनकपुरी में देखा कि बाजार में धनी और व्यापारी लोग अपनी-अपनी वस्तुएं लिए बैठे हैं। इसके साथ ही तुलसी की दृष्टि किसानों की तरफ भी गई, ‘कृषि निरावहिं चतुर किसाना’। मंथरा की कूट बुद्धि दशरथ का रोना, सीता का त्याग, राम के वनगमन पर अयोध्यावासियों का उमड़ा प्रेम, भरत का भ्रातृभाव, कोल-किरातों की गरीबी, केवट का निश्छल शंका (राम के स्पर्श मात्र से नाव का स्त्री बन जाना), शबरी की भावुकता, रावण पर जीत हासिल कर अयोध्या पर आनंदोत्सव, दशरथ के संयुक्त परिवार में हँसी खुशी के दृश्य, आदि यथार्थ तो हैं ही इसके साथ ही यह हमारी गहरी संवेदना को भी पकड़ती है।

तुलसी ने मानस में यथार्थ के साथ ही माया और लीला का भी अंतः मिश्रण किया है। जो भारत के धार्मिक संरचना के अनुकूल है। ग्राउज ने तुलसी के धार्मिक तथा भक्ति संबंधी पक्षों पर भी महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। उनका मत है -

“उनके (तुलसी के) धार्मिक विचार सर्ववादी हैं जिनका आधार उत्तरकालीन वेदान्तियों की वेदान्त सार में निहित शिक्षा है। समस्त दृश्यमान जगत उनके विचारानुसार भ्रान्तिमान दृश्य हैं जो अज्ञान अथवा भ्रान्ति से उद्भूत हैं। अगोचर और अनन्त होकर, सर्वव्यापी होते हुए उसका संसार से कोई संबंध नहीं है - पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति होने पर ही मोक्ष संभव है जब आत्मा निर्गुण-ब्रह्म में लीन हो जाती है।”⁸

ग्राउज की दृष्टि तुलसी के ‘मानस’ में त्रुटिपूर्ण अंशों की ओर भी गई है। ‘मानस’ की नीरसता पर उनका आक्षेप है कि “कवि काण्डों के कथा प्रवाह की गति को

रोक कर अनावश्यक प्रचारात्मक बातों की भरमार करने लगता है जिसमें कवि का रूप नगण्य होकर एक धर्म प्रचारक का रूप प्रमुख हो जाता है।”⁹

ग्राउज ने बिल्कुल सही कहा है कि ‘मानस’ में तुलसी एक धर्म प्रचारक के रूप में सामने आते हैं। यह भी एक कारण है कि ‘मानस’ धर्म ग्रंथ के रूप में लोकप्रिय है। इस प्रकार के छिट-पुट साहित्यिक दोष पर ही समीक्षक की दृष्टि गई है। तुलसी के गुण निरूपण में उनका मन अधिक रमा है।

ग्रियर्सन गोस्वामी तुलसीदास के पाश्चात्य समीक्षकों में तुलसी की वैज्ञानिक समीक्षा के सूत्रपात माने जाते हैं। ग्रियर्सन ने तुलसी संबंधी समीक्षा में उनकी जीवनी, रचनाओं की प्रामाणिकता एवं उनका क्रम, भक्तिवाद का स्वरूप और तुलसी की भाषा के सम्बन्ध में विशिष्ट कार्य किया है। उनकी पुस्तक ‘द मॉडर्न लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान’ में अत्यन्त महत्वपूर्ण सामग्री देखने को मिलती है। इसके पूर्व उनका प्रथम लेख जो तुलसी विषयक है बियजा के यूरोपीय प्राच्य विद्या विशारदों के अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशन में सन् 1886 में पढ़ा गया था। ग्रियर्सन स्वयं भाषाविद् थे। उन्होंने भारतीय भाषाओं का विधिवत् सर्वेक्षण करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है।

गोस्वामी तुलसीदास का वैज्ञानिक अन्वेषण करके ग्रियर्सन ने पहले से चली आ रही ‘सूर सूर तुलसी शशि’ वाली मान्यता को बदलने का महत्वपूर्ण प्रयास किया है। उन्हें भक्तिकाल के कवियों में तुलसी ईसाई मत के सबसे निकट दिखाई देते हैं। उनका मत है “भक्ति-मत को प्रचारित करने वाले कवियों में सबसे अधिक विचारों में ईसाई मत से प्रभावित तुलसीदास ही हैं। उनके अनुसार कबीरदास के ढाई अक्षर वाला सिद्धान्त सेन्टजान की उपदेश माला से साम्य रखता है। मैं विश्वास करता हूँ कि मैंने पूर्ण रूप से दिखा दिया है कि भारतीय भक्ति-मार्ग दक्षिण भारत के नेस्टोरियन ईसाई चर्च का कितना ऋणी है।”¹⁰

भारतीय धर्मों का भक्ति सिद्धान्त नेस्टोरियंस के ईसाई धर्म-प्रवर्तकों के सिद्धान्तों से प्रभावित होने का कारण उन्होंने यह बताया है “हिन्दू धर्म एक ऐसा धर्म है जो प्रत्येक मत-मतान्तर को अपने में आत्मसात कर लेता है, और यह सभी को पता है कि ईसाई धर्म इसी प्रकार आया और उसने हिन्दू धर्म को प्रभावित किया।”¹¹

यह बात बिल्कुल तर्कसम्मत नहीं है कि भारतीय भक्ति-मार्ग किसी रूप में नेस्टोरियन चर्च के ईसाई मत से अनुप्राणित रहा है। भारतीय भक्ति मार्ग तो भारतीय

सभ्यता एवं संस्कृति के मूलभूत सिद्धान्तों से निकला हुआ धर्म है तथा उनसे पूर्ण रूप से अनुप्राणित भी। यह हो सकता है कि कुछ सिद्धान्तों में समानता हो। ऐसे भी धर्म के वैचारिक आधार में कहीं न कहीं समानता तो होती ही है शायद इसी कारण ग्रियर्सन को ऐसा लगा हो।

ग्राउज ने इस बात का पूर्णतः विरोध किया है हिन्दू धर्म ईसाई धर्म से प्रभावित है। ऐसा हो सकता है कि 'रक्षा करने वाला अवतार के रूप में भक्ति के सिद्धान्त एवं ईसाई विचारों में समानता से यूरोपियों के मस्तिष्क में यह भ्रम छा गया था कि ब्राह्मणों ने इसे दक्षिण भारत के ईसाई समुदाय से ग्रहण किया।

इस प्रकार ग्राउज ने यह संकेत किया है 'मानस' या भक्तिकाव्य की अन्य रचनाओं को ईसाई मत से प्रभावित दिखाने की बजाए उन्हें अपने ऐतिहासिक-सांस्कृतिक संदर्भ में रख कर देखना चाहिए।

ग्रियर्सन ने 'मानस' की तुलना बाइबिल से करते हुए यह कहा है "रामायण ने तुलसीदास को अमर कर दिया। वस्तु-विषय, चित्रण की अनेकरूपता ओज, लय, भाषा की समृद्धि और सौन्दर्य, भक्ति की भावना तथा अन्य दूसरी विशिष्टताओं ने रामायण को हिन्दी भाषा-भाषी हिन्दुओं की बाइबिल बना दिया। इंग्लैंड में किसी भी कवि के साथ जनता का इतना संबंध नहीं है जैसा कि इस देश की जनता का तुलसीदास से है। अंग्रेजी काव्य के एकमात्र कवि रॉबर्ट बर्न्स की कविताएं निकटतम उदाहरण के रूप में प्राप्त हो सकती हैं।"¹²

ग्रियर्सन ने यह माना है कि तुलसी ने 'मानस' की रचना जनता के लिए की है और वे इसमें सफल भी हुए हैं। क्योंकि जनता के हृदय में आज भी तुलसी का वास है। वास्तव में वे जनता के कवि हैं।

डॉ. ग्रियर्सन के पश्चात् एडविन ग्रीब्ज का नाम आता है जिन्होंने 'मानस' की समीक्षा करने के पाश्चात्य प्रतिमानों के स्थान पर पूर्वी प्रतिमानों के प्रयोग को आधार बनाया। 'मानस' की सम्प्रेषणीयता तथा उनकी लोकप्रियता के आधार पर तुलसीदास के बारे में ग्रीब्ज की स्थापनाएं डॉ. ग्रियर्सन से आगे चली जाती है। उनकी उद्घोषणा कि "महाकवि तुलसीदास से स्पर्द्धा करने वाला कवि इंग्लैंड में कोई नहीं है।"¹³

किसी पाश्चात्य आलोचक द्वारा तुलसी के संदर्भ में यह स्थापना सचमुच महत्वपूर्ण है। ग्रीब्ज से पहले के समीक्षकों को उसके 'मानस' में प्रतीक-विधान; बिम्ब-

विधान, साहित्यिक रूढ़ियों एवं परंपराओं में नीरसता के दर्शन हुए हैं। लेकिन ग्रीब्स की यह स्थापना तुलसी को सारे दोषों से मुक्त कर देता है। लेकिन दोषों से मुक्त साहित्य का होना भी एक प्रकार का दोष है। तुलसीदास का काव्य अपने गुण-दोष दोनों ही दृष्टिकोण से पूर्ण है, इसीलिए बार-बार इसके पुनर्मूल्यांकन की संभावनाएं नजर आती हैं।

डॉ. ग्रियर्सन ने तुलसी के गुणों का विवेचन करने के बाद उनके कुछ दोषों की तरफ भी निर्देश किया है उनके अनुसार - “तुलसीदास भी भारतीय काव्य प्रणाली के परम्परागत घने कुंहासे से ऊपर नहीं उठ सके। मैं स्वीकार करता हूँ कि उनके युद्ध-वर्णन प्रायः अस्वाभाविक एवं विकर्षक हैं। कभी-कभी दुःखद और उपहासास्पद स्थलों के बीच की सीमा का अतिक्रमण होता हुआ दिखाई देता है।”¹⁴

उपरोक्त दोष को अगर ध्यानपूर्वक देखा जाए तो इस दोष के कारण का पता चल जाएगा। यह दो विभिन्न सांस्कृतिक चेतनाओं का नतीजा है और कुछ भी नहीं। निस्संदेह रूप से ग्रियर्सन ने तुलसी के अध्ययन को वैज्ञानिक समीक्षा के आधार पर परखने की एक नवीन परिपाटी का शुभारंभ किया। लेकिन तुलसी के काव्य में कोई गंभीर दोष की तरफ उनकी दृष्टि नहीं जा सकी।

पाश्चात्य आलोचकों ने तुलसी को अभारतीय विचारों से प्रभावित माना है। प्रारंभ के आलोचक उन्हें ‘मानस’ के आधार पर एक धार्मिक कवि के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं लेकिन बाद के आलोचकों ने उनके काव्य में साहित्यिक गुणों की खोज भी की है जिसके कारण साहित्यिक कवि के रूप में भी उन्हें प्रतिष्ठा मिली है।

संदर्भ:

1. वाक्-संपादक - सुधीश पचौरी-2007, पृ. 8
2. एच.एच. विल्सन “स्केच ऑफ रिलीजस सेक्टर्स ऑफ हिन्दूज” : पुनर्मुद्रण इंडोलॉजिकल बुक हाउस, 1972, दिल्ली, पृ. 41
3. तासी-इस्तवार द लॉलतरेत्यूर एंडुई अनुवाद - डॉ. लक्ष्मीसागर वर्णोय - हिन्दुई साहित्य का इतिहास (1953), पृ. 99-100
4. वही, पृ. 103-104
5. भगवत प्रसाद सिंह - तुलसीदास - व्यक्ति और रचना संदर्भ, पृ. 1
6. श्री नाभादास जीविरचित - ‘श्री भक्तमाल’ (1986), पृ. 130
7. एफ.एस. ग्राउज - ‘रामायण आव तुलसीदास’, (भूमिका), एस्पेसीमन ट्रांसलेशन (1937), पृ. 2

8. डॉ. केसरी नारायण शुक्ल - मानस की रूसी भूमिका (1955), पृ. 156.157
9. वही, पृ. 311
10. जर्नल आव रॉय एशियाटिक सोसायटी बंगाल (1903), पृ. 314
11. वही, पृ. 311
12. डॉ. केसरी नारायण शुक्ल - 'मानस की रूसी भूमिका', (1955), पृ. 169
13. डॉ. वीरेन्द्र पाल श्रीवास्तव - गोस्वामी तुलसीदास संबंधी समीक्षाओं और शोधों का अनुशीलन, (1974), पृ. 56
14. डॉ. जी.ए. ग्रियर्सन - मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान, पृ. 43

डॉ. सुधा निकेतन रंजनी

हिन्दी विभाग

कमला नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

मोबाइल नं. : 9136317704

ई-मेल : snranjani@gmail.com

स्त्री अस्तित्व के नये स्वर और मृदुला गर्ग के उपन्यास

मनुष्य जीवन की पल-पल बदलती स्थितियों-परिस्थितियों से आँखें मूंदकर नहीं जी सकता। एक बिंदु पर आकर उसे बदलना पड़ता है। एक समय आता है जब पुरातन मान्यताएं, स्थापनाएं एवं विचार फीके पड़ने लगते हैं तथा उनका स्थान नवीन धारणाएं एवं सोच लेने लगती हैं। यह परिवर्तन आकस्मिक रूप से न होकर सतत प्रक्रिया के तहत होते हैं जिनसे जनमानस के साथ-साथ साहित्य का प्रभावित होना निश्चित ही है। इसी कड़ी में समकालीन साहित्य, विशेषकर उपन्यास की दृष्टि से देखा जाए तो परंपरागत ढांचे से निकलकर समकालीन उपन्यासकारों ने नए तेवरों, नए संदर्भों एवं नई भाषा को गढ़ा है। समकालीन उपन्यासों की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे पारंपरिक संबंधों के समक्ष न केवल प्रश्नचिह्न लगाते हैं वरन् एक नए दृष्टिकोण से भी उन्हें देखने-समझने को प्रेरित करते हैं। इन्हीं उपन्यासकारों में एक प्रमुख नाम है - मृदुला गर्ग का।

मृदुला गर्ग के उपन्यास स्त्री जीवन के संकुचित दायरों का अतिक्रमण करते हैं। उनके उपन्यासों में जीवन में घटित होने वाली बड़ी-बड़ी घटनाएं ही इसका साक्ष्य नहीं बनतीं बल्कि जीवन की छोटी-छोटी घटनाएं एवं मामूली से लगने वाले क्रिया-कलाप तथा स्थितियां भी संपूर्ण जीवन को आंदोलित करने वाले महत्वपूर्ण घटक बनकर कलात्मक अभिव्यक्ति पाते हैं। मृदुला गर्ग स्त्री चेतना की संवाहक लेखिका रही हैं चाहे उनके द्वारा लिखित उपन्यास हों, कहानी या फिर नाटक, प्रत्येक विधा में उन्होंने नारी चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति की है। चूंकि मेरा वर्ण्य विषय यहां पर मृदुला जी के उपन्यासों का अवलोकन करना है अतः उसी दृष्टि से मैं यहां अपने विचार व्यक्त करना चाहूंगी।

विवाहेत्तर संबंधों पर आधारित उनके पहले उपन्यास 'उसके हिस्से की धूप' में नायिका मनीषा के माध्यम से स्त्री स्वातंत्र्य की बात की गई है। दो बार संबंध विच्छेद कर अपने निजी व्यक्तित्व की तलाश करना आज भी समाज में एक 'बोल्ड' कदम कहा जाएगा। यह उपन्यास पुराने नैतिक मूल्यों को सिरे से खारिज करता है। एक भारतीय नारी के लिए जो मानदंड स्थापित किए गए कि वह मरते दम तक अपने वैवाहिक जीवन को संजोकर रखे, भले ही उसके लिए उसे अनेक समझौते क्यों न करने पड़ें, इस उपन्यास में ऐसी मान्यताओं का खंडन हुआ है। अपने पहले पति की अति व्यस्तता, उदासीनता तथा यंत्रवत जिन्दगी से ऊबकर मनीषा तलाक लेने में तनिक संकोच नहीं करती। यहां तक कि जब वह अपने प्रेमी से दूसरे पति बने मधुकर नागपाल के साथ भी तीन-चार वर्षोपरान्त दाम्पत्य-

संबंधों में ऊब कर अनुभव करती है तो स्वत्व की तलाश हेतु विवाह विच्छेद का निर्णय करती है। यह उपन्यास एक नारी की दृढ़ता एवं संकल्पशीलता को दर्शाता है कि जब विवाह आनंद, सार्थकता, प्रेम एवं विश्वासबोध नहीं दे पाता जब उसमें केवल मान्यताओं के निर्वाह मात्र हेतु बंधकर रहना समझदारी नहीं है। समाज द्वारा स्त्रियों की आत्म सार्थकता एवं चेतना की तलाश करता है। भले ही स्थूल सामाजिक दृष्टि से मनीषा को चरित्रहीन, अनैतिक एवं अस्थिर व्यक्तित्व की स्वामिनी कहा जाए। किंतु यह उपन्यास दो-दो वैवाहिक संबंधों के विच्छेद एवं अस्थिरता द्वारा यह बताता है कि आज की नारी के लिए विवाह ही एकमात्र लक्ष्य नहीं है। आज की नारी अपने व्यक्तित्व की सार्थकता तलाशती है। अपनी अस्मिता के प्रति अब वह उदासीन नहीं है।

मृदुला जी के विवादास्पद किंतु लोकप्रिय उपन्यास 'चित्तकोबरा' में प्रेम, विवाह और सेक्स के कथ्य द्वारा लेखिका ने नारी चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति की है। समसामयिक लेखक नारी की भावसत्ता की अनदेखी नहीं करते। नारी के चरित्र को नैतिकता की बंधी-बंधायी कसौटी पर कसकर उसे आदर्श की प्रतिमूर्ति के रूप में स्थापित कर देने की पूर्ववर्ती मानसिकता के विपरीत उसके संपूर्ण यथार्थ स्वरूप के साथ प्रस्तुत करते हैं। 'चित्तकोबरा' भी मृदुला जी का ऐसा ही उपन्यास है जिसमें उन्होंने नायिका मनु के माध्यम से स्त्री को अनेक वर्जनाओं से मुक्त करने का सार्थक प्रयास किया है, भले ही ऐसा होने में कुछ वर्षों का समय लग गया है। स्वयं लेखिका ने इस कटु अनुभूति को साझा करते हुए लिखा है कि "लगता है समय से पहले लिखा गया इसलिए बरसों स्वीकार्य नहीं हुआ। कम से कम सार्वजनिक रूप से आलोचना को।" यह उपन्यास दिखाता है कि आज की नारी घुट-घुट कर नहीं वरन् स्वच्छंद मन से जीना चाहती है। समाज चाहे उसके इस व्यवहार को चरित्रहीनता की संज्ञा दे किन्तु उसे सुचरित्रा की सफेद चादर ओढ़े भीतर ही भीतर कुढ़ते रहना अब बर्दाश्त नहीं। पहले जहां सिर्फ पुरुष की काम-पिपासा का ही वर्णन प्रधान होता था वहीं आज स्त्रियों की यौन-जिजीविषा का भी बेबाक वर्णन होने लगा है। आज की नारी आखिर क्यों अपनी काम-वासना की पूर्ति का साधन न खोजे, यदि उसका पति उसे तृप्त करने में असमर्थ है। कहना न होगा कि "नर-नारी संबंध की यह अत्यंत क्रांतिकारी किन्तु सत्याधारित कल्पना मृदुला जी की अपनी विशिष्टता भी है ओर नवीनता भी।"

सन् 1996 में प्रकाशित मृदुला जी के प्रसिद्ध उपन्यास 'कठगुलाब' में नारी-चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। इसमें नारी के दमन एवं शोषण के उपरान्त उसकी

आत्मनिर्भरता, शोषण के विरुद्ध उठकर अपने अस्तित्व को प्राप्त करने का संघर्ष एवं नारी-चेतना के दर्शन होते हैं। सत्य तो यह है कि केवल भारत ही नहीं वरन् संपूर्ण विश्व में स्त्री का शोषण होता रहा है, चाहे वह शारीरिक शोषण हो या फिर बौद्धिक, मानसिक या आर्थिक शोषण। किन्तु 'कठगुलाब' में लेखिका ने दिखाया है कि आज की नारी सदियों से चले आ रहे शोषण के इस चक्र का सामना अपने आत्मिक - बल से कर सकने में समर्थ हुई है। नारी संघर्ष और नारी चेतना पर लिखी गई अन्य कृतियों से 'कठगुलाब' इस मायने में भिन्न है क्योंकि 'कठगुलाब' की स्त्रियाँ पुरुष समानता की खोज या होड़ की स्त्रियाँ न होकर, स्त्री की स्त्री के रूप में स्वीकृति का कथागान है। अगर पुरुष की पहचान उसके पुल्लिंग रूप में है तो स्त्री की उसके स्त्रीलिंग के रूप में।" उपन्यास में स्मिता, असीमा और विपिन मजूमदार के माध्यम से वर्णित 'गोधड़ योजना' द्वारा लेखिका मंतव्य स्पष्ट है कि यदि महिलाओं को समाज में अधिकार दिलवाने हैं तो उन्हें पढ़ा-लिखा कर आत्मनिर्भर बनाना होगा।

'कठगुलाब' के समस्त नारी-चरित्र शोषण के विरुद्ध संघर्ष करते हुए अपनी अस्मिता से रू-ब-रू होकर सफलता प्राप्त करते हैं। स्मिता का अपने जीजा द्वारा शारीरिक-शोषण करने के उपरान्त उसकी बहन नमिता का घर छोड़कर कानपुर में एम.ए. अर्थशास्त्र में दाखिला लेना, तदुपरान्त अमेरिका चले जाना, वहां मनोवैज्ञानिक पति जिमजारविस द्वारा शारीरिक एवं मानसिक शोषण का विरोध कर 'रॉ' (रिलीफ फॉर एब्यूज्ड वूमन) नामक नारी-संगठन से जुड़कर अपने अधिकारों एवं अस्तित्व को पहचानना और अंततः भारत में 'गोधड़-परियोजना' द्वारा 'बा' के रूप में प्रसिद्ध होना उसके अथक परिश्रम एवं जिजीविषा द्वारा सफलता प्राप्त करने की कथा है।

स्मिता की ही भांति नारी-चेतना का एक अन्य उदाहरण नर्मदा है। बचपन से ही शोषण की शिकार नर्मदा को जब पता चलता है कि उसके शोषण के पीछे उसके जीजा ही नहीं बल्कि उसकी बहन का भी हाथ रहा है तो वह सहती नहीं है तथा विद्रोह कर उन्हें छोड़कर चली जाती है। निर्भीक नर्मदा स्कूल में नौकरी करती है, फिर नमिता के घर उसके अपाहिज पति की सेवा-सुश्रुषा का कार्य करती है किन्तु दूसरों पर आश्रित नहीं रहती है। आत्मनिर्भर रहकर वह अपनी जिंदगी गुजारती है।

उपन्यास में एक अमेरिकी महिला-पात्र मारियान के माध्यम से भी नारी-चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। वह भी 'रॉ' की सदस्य है। मारियान का बौद्धिक शोषण उसका ही पति इर्विंग करता है। मारियान दस वर्षों तक एक उपन्यास की रचना हेतु सामग्री जुटाती रही और उसका पति उससे कहता रहा कि "शेयर तो

करना ही होता है। मैं अपना नजरिया तुम से शेयर करूंगा और तुम अपनी जानकारी मुझसे। तभी न एक आर्थेटिक किताब लिखी जा सकेगी जो हम दोनों की होगी।” किन्तु अंत में उपन्यास छपता है सिर्फ इर्विंग के नाम से। जिस मारियान ने दिन-रात एक करके उपन्यास की रचना हेतु सामग्री एकत्रित की, अपने विचार साझा किए, उसी को दरकिनार कर उसके पति ने उपन्यास अपने नाम से छपवा डाला। परन्तु मारियान हार नहीं मानती। इर्विंग से अलग होकर स्मिता की दर्द भरी कहानी पर आधारित उपन्यास -द फीमेल जेस्ट’ लिखती है, उसके बाद चार अन्य उपन्यासों की रचना करके एक प्रसिद्ध लेखिका के रूप में एक पहचान बनाती है।

उपन्यास में असीमा नामक नारी-पात्र प्रारंभ से ही निर्भीक, दबंग एवं स्वाभिमानी है। वह नर्मदा एवं गंगा जैसी अशिक्षित औरतों को सुरक्षा एवं अधिकारों की जानकारी देती हैं, नमिता जैसी घरेलू हिंसा की शिकार महिलाओं की रक्षा करती है तथा गांवों में लड़कियों की शिक्षा-व्यवस्था, विद्यालयों के निर्माण जैसे रचनात्मक कार्यों हेतु प्रयत्न करती दिखलाई पड़ती हैं।

उपन्यास में उपर्युक्त प्रमुख नारी-पात्रों के अतिरिक्त भी कई ऐसे पात्र हैं जिनमें नारी-चेतना का स्वर दिखलाई पड़ता है। इन्हीं में से एक स्त्री-पात्र है - नीरजा जिसे विशेष कह सकते हैं। विशिष्ट इस अर्थ में कि जब विपिन उसके स्वच्छंद स्वभाव से प्रभावित होकर विवाह का प्रस्ताव रखता है ताकि नीरजा उसे एक बच्चा दे सके तो नीरजा उस प्रस्ताव को ठुकरा कर, लीव-इन रिलेशनशिप’ में रहकर उसके बच्चे की मां बनना स्वीकार करती है। अनेक प्रयासों के बावजूद भी जब वह मां नहीं बन पाती तो अंततः एक विधुर तथा बच्चों के पिता डॉक्टर जोशी से विवाह कर लेती है। नीरजा के माध्यम से यह बात सामने आती है कि आज की स्त्री अपने जीवन को अपने मन मुताबिक अपने हिसाब से जीने का सामर्थ्य रखती है, बिना समाज की परवाह किए, बगैर यह चिन्ता किए कि ‘लोग क्या कहेंगे?’ यह बहुत बड़ी बात है क्योंकि सदियों से दमित-शोषित तथा पुरुषसत्तात्मक समाज द्वारा संचालित नारी-जीवन उन्मुक्त होकर खुली हवा के झोंकों को महसूस तथा स्पर्श करने लगा है।

इसी तरह उपन्यास में एक अन्य स्त्री पात्र है - असीमा की मां। पति द्वारा परित्यक्ता असीमा की मां स्वाभिमानी है, अशिक्षित होते हुए भी वह अपने दम पर सिलाई का कारखाना चलाकर अपने बच्चों को पालती है परन्तु आर्थिक सहायता स्वीकार नहीं करती। वह परंपरित परित्यक्ता की भांति रोती-बिलखती, उदासीन, दुःखी या बेबस दिखलाई नहीं पड़ती बल्कि इसके विपरीत तमाम कठिनाइयों का सामना करते हुए एक सम्मानित जीवन जीती है।

अंततः यही कहा जा सकता है कि - “स्त्री को उसके जातिवाचक और भाववाचक संज्ञापदों से हटकर उसकी समग्रता के लिए एक तीसरे मनुष्य के रूप में स्थापित करता है ‘कठगुलाब’ उपन्यास कुल मिलाकर स्त्री की संपूर्ण स्वतंत्रता एवं अस्मिता के साथ जीने का कथ्य है ‘कठगुलाब’। कहा जा सकता है कि मृदुला जी के उपन्यासों में पुरुषसत्ता के साथ न तो प्रतिस्पर्धा है और न ही पुरुषों को कमतर आंकने का प्रयत्न बल्कि इनमें तो स्त्री को भी इंसान मानने एवं समझने की बात कही गई है। स्त्री के प्रति देहवादी दृष्टिकोण का इनमें विरोध हुआ है। यहां पुरुष से होड़ करनेवाली बात नहीं है बल्कि अपने जीवन को स्वतंत्रतापूर्वक जीने का सामर्थ्य है। चंद्रकांता जी का कथन सत्य है कि “मृदुला गर्ग के कठगुलाब की नारियाँ देश-विदेश में बसी नारियाँ हैं जो भिन्न संदर्भों स्थितियों के बावजूद पुरुष की सामन्ती मानसिकता के विरोध में बजिद अड़ी-डटी हैं। बार-बार तोड़े जाने पर भी हार न मानने वाली स्त्रियाँ मौजूद हैं।” मृदुला जी के नारी-पात्रों ने अपने ऊपर हो रहे शोषण और अत्याचारों का विरोध कर अपने अदम्य साहस का तो परिचय दिया ही है, साथ ही यह भी दिखाया है कि वह हाड़-मांस-रक्त की बनी देह मात्र न होकर एक चेतनायुक्त प्राणी भी हैं और इसी रूप में उनके साथ व्यवहार होना चाहिए।

संदर्भ-ग्रंथ :

1. समकालीन कहानी : दिशा ओर दृष्टि, संपादक: डॉ. धनंजय, अभिव्यक्ति प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1970
2. मृदुला गर्ग का कथा साहित्य : डॉ. तारा अग्रवाल, विद्या प्रकाशन, कानपुर, द्वितीय संस्करण 2011
3. कठगुलाब, मृदुला गर्ग
4. चित्तकोबरा, मृदुला गर्ग
5. उसके हिस्से की धूप, मृदुला गर्ग
6. चुकते नहीं सवाल: मृदुला गर्ग
7. संचेतना, सितम्बर 1999, पृष्ठ 15

डॉ. सुषमा सहरावत

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग

कमला नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

मोबाइल नं. : 9891483516

ई-मेल : sushmakncdu@gmail.com

समकालीन हिंदी महिला कहानी लेखन: कुंठा और वर्जना से मुक्ति के स्वर

यह अच्छी तरह याद रखना
जब तुम घर की चौखट लांगोगी
लोग तुम्हे टेढ़ी नज़रों से देखेंगे
जब तुम गली से होकर गुजरोगी
लोग तुम्हारा पीछा करेंगे सीटी बजाएँगे
जब तुम गली पार करके मुख्य सड़क पर पहुँचोगी
लोग तुम्हें चरित्रहीन कहकर गालियाँ देंगे
तुम व्यर्थ हो जाओगी अगर पीछे लौटोगी
वरना जैसे जा रही हो बढ़ती जाओ !.....तसलीमा नसरीन

उपर्युक्त काव्य पंक्तियाँ आज के स्त्री लेखन के स्वर और तेवर का संकेत देती हैं। प्रस्तुत शोध पत्र समकालीन हिन्दी कहानी में इसी स्वर और तेवर की पड़ताल का प्रयास है।

समकालीन साहित्य से अभिप्राय ऐसे साहित्य से है जो अपने समय के बोध को व्यक्त करे। उसका सीधा सम्बन्ध समसामयिकता से है। समकालीनता का सम्बन्ध एक विशेष कालखंड से तो है ही ऐतिहासिकता से भी है तभी समसामयिक समस्याओं की जड़ में जाकर उनका विवेकपूर्वक चित्रण और समझ विकसित की जा सकती है। डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय जैसे वामपंथी आलोचक समकालीनता को अर्थ व्याप्ति देते हुए समकालीन कहानी को "विद्रोही कहानी" का नाम देते हैं। वे समकालीनता को शोषक वर्गों और उनकी शक्तियों—समूहों का ध्वंस, सक्रिय संघर्ष, आक्रामकता आदि से जोड़ते हैं। वस्तुतः समकालीन कथाकार से अभिप्राय सिर्फ एक विशेष समय अथवा कालावधि के रचनाकारों से नहीं बल्कि अपने समय से गहरे जुड़े ये रचनाकार अपने परिवेश और समाज की विसंगतियों, विद्रूपताओं और अन्तर्विरोधों का वर्णन भी करते हैं। इनकी वर्णन शैली कभी यथास्थितिवाद वाली होती है और कभी विद्रोही तेवर वाली।

इस लेख में समकालीन कहानी की कालावधि १९८० के प्रस्थान बिन्दु से मानी गई है। किन्तु आज के समसामयिक हिन्दी कहानी साहित्य में स्त्री के प्रेम और

काम संबंधों के प्रति नजरिये को देखने से पहले यह आवश्यक है कि उन ऐतिहासिक तहों में जाकर स्थितियों की पडताल भी की जाए जहाँ से इस संदर्भ में हिन्दी कहानी के स्वर बदलते दिखाई देते हैं। "नई कहानी आंदोलन" से हिन्दी कहानी में कथ्य और शिल्प की दृष्टि से भारी बदलाव आने लगे। "अनुभव की प्रमाणिकता" और "भोगा हुआ यथार्थ" इस समय का मूल मंत्र था। व्यक्ति विशेषकर मध्यवर्गीय व्यक्ति इस समय की कहानी का केन्द्र था। अस्तित्ववाद, वैयक्तिक स्वातंत्र्य, बौद्धिकता, नए सामाजिक आर्थिक और राजनीति के नए समीकरण नई कहानी आंदोलन के विषय बने।

हिन्दी कहानी साहित्य इतिहास में सन १९६५ केबाद की कहानी को समकालीन कहानी आंदोलन का दर्जा दिया गया है। इस समय का भारतीय सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवेश अत्यन्त द्रुत गति से बदला। इस समय के साहित्य की सभी विधाओं में यथार्थ चित्रण का मुहावरा भिन्न था। १९६५ के बाद की कहानी को "साठोत्तरी", "सातवें दशक की कहानी" आदि विशेषण भी दिए गए जो समग्र रूप में इस बात के द्योतक थे कि कहानी में बदलाव आया है। वसतुतः इस दौर में गुणात्मक और परिमाणात्मक दोनों दृष्टियों से श्रेष्ठ साहित्य की रचना की गई जिसमें महिला लेखिकाओं की बड़ी संख्या में भागीदारी मुखर हुई, जहाँ पुरुष लेखन से अलग वे अपनी विशेष जगह दर्ज करा पाई। उन्होंने स्त्री जीवन के अत्यंत गूढ रहस्यों, उसके मनोजगत, आन्तरिक और बाह्य संघर्षों, पुरुष के साथ वैयक्तिक संबंधों आदि का अत्यंत स्वाभाविक और बेबाक चित्रण किया। जिस लोक का पुरुष लेखक शायद ही कभी विचरण कर पाता, वहाँ की परत-दर-परत इन लेखिकाओं ने सहजता से खोली। उनके द्वारा कई श्रेष्ठ कहानियाँ इन्ही क्षेत्रों के अनुभव पर लिखी गईं। इनमें से एक अत्यन्त विशिष्ट क्षेत्र था स्त्री-पुरुष संबंध। हालांकि "नई कहानी आंदोलन" और उसके बाद के कहानी आंदोलनों के कई पुरुष लेखकों ने भी इस विषय पर कई अच्छी कहानियाँ लिखीं किन्तु जहाँ बात स्त्री की व्यक्तिगत विचारधारा और अनुभव की हो, वहाँ एक स्त्री ही ज्यादा प्रमाणिक ढंग से लिख सकी है। फर्क "स्वानुभूति" और "सहानुभूति" का है। विशेष रूप से उल्लेखनीय रचनाकारों और रचनाओं में मन्नू भंडारी की यही सच है, ममता कालिया की एक अदद औरत, प्रतिदिन, सीट नंबर छह, कृष्णा अग्निहोत्री की आक्टोपस, औरतजात, टीन के घेरे, गलियारे, इंदु बाली की टूटती जुडती, मेरी

तीन मौतें, बिना छत का मकान आदि स्त्री-पुरुष संबंधों के प्रमाणिक यथार्थ पर लिखी यादगार कहानियों में से हैं।

इस दौर की मृदुला गर्ग, मणिका मोहिनी, निरूपमा सेवती, मोना गुलाटी आदि ऐसी कहानीकार हैं जिन्होंने अपने लेखन के विशेष तेवर से हिन्दी में "बोल्ड कहानी" की धारा को प्रवाहित किया। इनमें मृदुला गर्ग की "कितनी कैदें", टुकड़ा-टुकड़ा आदमी", डेफोडिल जल रहे हैं, मणिका मोहिनी की अनलकी नंबर, देखा-देखी, ढाई आखर प्रेम का, निरूपमा सेवती की कंचुली, आतंकबीज, विषाक्त आदि इस संदर्भ में चर्चित कहानियाँ हैं। इन कहानियों में बदलते हुए समाजार्थिक स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में काम-संबंधों के प्रति बदलती नारी की मूल्य-दृष्टि उल्लेखनीय है। समकालीन आंदोलन की लेखिकाओं ने प्रेम और यौन-संबंधों के क्षेत्र में नैतिकता के छद्म को तोड़ा। काम-संबंधों के प्रामाणिक यथार्थ और देह धर्म की ईमानदार स्वीकृति को जितनी प्रामाणिकता से इन लेखिकाओं ने व्यक्त किया वह अभूतपूर्व था। इस समय तक स्त्री-पुरुष के रुमानी प्रेम संबंधों पर आधारित, जहाँ प्रेम में उत्सर्ग अथवा बलिदान की भावना दिखाई दे, कहानियों का अभाव दिखता है। इसका मूल कारण यही है कि तत्कालीन समाज में प्रेम के संबंध में पारंपरिक धारणा, श्रेष्ठ मूल्य के रूप में प्रेम को जीने की जीवन दृष्टि का अभाव, और जीवन में बौद्धिकता, भौतिकता और तार्किकता का प्रभाव बढ़ता जा रहा था।

इस बदलाव से सबसे अधिक प्रभावित समाज का मध्यवर्ग था। आधुनिक शिक्षा और सोच, पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव, आर्थिक दबाव और परिवेशगत बदलाव के कारण मध्यवर्गीय स्त्री का प्रेम सम्बन्धों को लेकर नजरिया बदला। विवाह जैसे निर्णय जितनी आसानी से लिये जाते उतनी ही आसानी से टूटने भी लगे और उतनी ही आसानी से दोनों टूटने के दर्द को भुला कर नई राहें और दिशाएं तय करने लगते। काम संबंधों के लिए विवाह अनिवार्य शर्त नहीं रह गई। फिर भी इस दौर में लिखी कहानियों में उन्मुक्त यौन संबंधों के प्रति कहीं ना कहीं हिचक जरूर थी। समाज का रवैया इस ओर इतना सहज नहीं था। इसीलिए तत्कालीन कहानियों के स्त्री पात्र भी बिना विवाह के बने संबंधों के कारण कहीं-कहीं कुंठित नजर आते हैं। किन्तु इतना तय है कि इस समय की कहानियों में स्त्री-पुरुष संबंधों के नए-नए वृत्त खुलते चले गए जिसने बाद की कहानियों के लिए ज़मीन तैयार की। और निश्चय ही

स्त्री-पुरुष के इन बदलते संबंधों पर महिला कथाकारों ने अधिक सशक्त लेखन कार्य किया।

१९८० के बाद भारतीय राजनीति, आर्थिक नीतियों और सांस्कृतिक संबंधों में कुछ ऐसे लक्षण दिखाई देने लगे जो पहले कभी नहीं दिखे। १९८४ में इन्दिरा गाँधी की हत्या के बाद सिक्ख विरोधी दंगा, हिन्दुत्व का एकधुवीकरण, पूँजीवाद की ओर बढ़ता रुझान, भूमंडलीकरण, निजीकरण, आर्थिक उदारीकरण आदि भारतीय इतिहास की वो विभाजक रेखाएँ हैं जिनके साथ विकास का नया दौर शुरू होता है। इन परिस्थितियों ने देश के नए समाजशास्त्र को रचना शुरू किया। १९९० के बाद भारत घोषित रूप में भूमंडलीकरण और पूँजीवादी शक्तियों के चंगुल में आ गया। और सन २००० से चरम उपभोक्तावाद और नव्य पूँजीवाद की शुरुआत दिखाई देने लगी। बाजार और पूँजी के इस दौर में ना केवल राजनीतिक-आर्थिक दृष्टिकोण बदले बल्कि सामाजिक, पारिवारिक संबंध, मूल्यबोध और मानवीय संवेदना में भी बदलाव आया जो स्वाभाविक परिवर्तनगत बदलाव था। इसका महत्वपूर्ण पक्ष था स्त्री विमर्श और दलित विमर्श का जन्म। इन विमर्शों को कहानी विधा ही सर्वाधिक प्रखर रूप से सामने ला सकी। स्त्री अस्मिता के व्यापक आंदोलन में "देह" की स्वायत्ता में स्त्री मुक्ति को देखा जाना लगा।

वर्जीनिया वुल्फ का मानना था कि प्रत्येक स्त्री जो लिखने के लिये कलम पकड़ती है उसे दो काम अनिवार्यतः करने पड़ते हैं— पहला अपने भीतर की घरेलू देवदूती को मारना और दूसरा बतौर "देह" अपने सच को उभारना। बतौर "देह" अपनी आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति स्त्री के लिए अत्यन्त दुःसाहस का कार्य है। काम संबंधों पर उन्मुक्त और बिना किसी वर्जना के किए गए स्त्री लेखन पर अश्लील, पोर्नोग्राफिक और वैश्याओं द्वारा किया गया लेखन जैसे तमाम तरह के आरोप और आक्षेप लगे। हंस पत्रिका द्वारा मुख्यधारा से बाहर की अस्मिताओं के संघर्ष की पहल में शामिल होकर उसे आगे बढ़ाने में उल्लेखनीय प्रयास किए गए। इसी प्रयास में स्त्री विमर्श बनाम "देहवाद" भी बहस का मुद्दा बन गया। तथाकथित कई नैतिकतावादियों ने इसका कडा विरोध किया। किन्तु स्त्री का प्रतिरोध उस दोहरी सामंतवादी मानसिकता से था जहाँ पुरुषों के लिए अलग और स्त्रियों के लिए अलग सामाजिक कानून बनाए जाते रहे हैं।

समकालीन हिन्दी कहानियों में लेखिकाओं द्वारा चित्रित स्वच्छन्द और उन्मुक्त यौन आचरण किसी वर्जना और कुंठा से ग्रस्त नहीं है। उनकी कहानियों के स्त्री पात्र बिना किसी कुंठा या प्रतिक्रियावश स्वच्छन्द यौन संबंध बनाते हैं। जिनमें उन्हें कोई हिचक नहीं। हमेशा से अपनी देह पर पुरुष अधिकार देखती और सुनती आई स्त्री की (संभोग हो या बलात्कार), मर्जी और विरोध के कोई मायने नहीं रहे। आज की कहानियों में स्त्री की वह तस्वीर मुखरित हुई जो आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर है, बुद्धिजीवी है, महत्वाकांक्षी है और जिसका संघर्ष परंपरा और आधुनिकता के बीच टूटते-बिखरते मूल्यों, नैतिकता और संस्कारों का संघर्ष है। स्त्री की स्वाधीन सोच को आज भी स्त्री विरोधी दृष्टि का सामना करना पड़ता है। अपने लिये "स्पेस" तलाश करती स्त्री की बेबाक तस्वीर प्रस्तुत करती कई कहानियाँ उदाहरणस्वरूप देखी जा सकती हैं। **गीता श्री, क्षमा शर्मा, जया जादवानी, अलका सरावगी, उर्मिला शिरीष, प्रभा खेतान, ऋता शुक्ल, मैत्रेयी पुष्पा, गीतांजलि श्री, सरयू शर्मा, अलका पाठक, मृदुला गर्ग, चित्रा मुद्गल** जैसी अनेक लेखिकाओं की कहानियाँ स्त्री चेतना के परिवर्तित स्वरूप को अपने प्रखरतम रूप में प्रस्तुत करती हैं।

बलात्कार जैसे घिनौने कृत्य का, फंतासी और व्यंग्यात्मक रूप में आक्रामक स्वर के साथ क्षमा शर्मा की कहानी **"कमीज़ पहन रहा है जैक द रिपर (१९६७)**, चित्रण करती हुई स्त्री को गुलाम बनाए रखने के लिए उसकी देह पर कब्जा जरूरी रखने की पुरुष मानसिकता को बताती है— "मनुवादी व्यवस्था सर्वोत्तम व्यवस्था है। स्त्री की योनि ही वह केन्द्र है, जिस पर कब्जा करके पूरे जगत पर कब्जा किया जा सकता है। हमारे बलात्कारी यही करते हैं। लेकिन जब से औरतों ने अपनी देह को पाया है, वे निर्लज्ज हो उठी हैं"। इसी संदर्भ में क्षमा शर्मा की ही एक और कहानी **"लव स्टोरीज:१९६४"** का एक उदाहरण दृष्टव्य है— "मगर आज की ये औरतें, उन्हें एसैस नहीं किया जा सकता है। वे बाहर क्या निकलीं हैं, मर्दों की दुनिया के गणित से लड़ने का उन्होंने नया शस्त्र विकसित कर लिया है, उसमें निर्लज्जता ए.के. छप्पन से बड़ा हथियार है"।

मृदुला गर्ग की कहानियाँ स्त्री स्वातंत्र्य के नए विमर्श को रचती विवाह संस्था को प्रश्न के घेरे में लाकर खड़ा कर देती हैं। उनकी कहानी की नायिकाएँ विवाह-संस्था के बेमानी हो जाने पर अपने व्यक्तित्व की पूरी स्वतंत्रता को

स्थापित करती दिखाई देती हैं। तभी वो सोचती हैं कि "बेहतर है मुक्त प्रेम, जो बासी होने पर फेंका जा सकता है। विवाह तब करना चाहिये, जब पुरुष को उसके बिना सब अर्थहीन मालूम पड़े। और स्त्री उसके बिना भी पूर्ण समर्पण को व्यग्र हो, तभी वास्तविक ऐक्य हो सकता है"। ("एक और विवाह" संगति-विसंगति कहानी संग्रह से) "तुक" कहानी की नायिका भारतीय वैवाहिक संबंधों के बारे में कहती है " पति का होना उनके (पत्नियों के) लिये एक स्थिति है, जिसके भीतर से कुछ एक सुखदायक स्थितियाँ पैदा होती हैं, जैसे बच्चे का होना, घर का होना,पति का होना उनके लिए एक तरह का व्यवसाय है, जिसके माध्यम से उन्हें पैसा और व्यस्तता, दोनों मिलते हैं"। मृदुला गर्ग की कहानियों की नायिकाएँ उस दाम्पत्य का तीव्र विरोध करती हैं, जो केवल शारीरिक स्तर पर हो, इसीलिए "तुक" कहानी की नायिका की देह मन ना मिलने के कारण हर रात इसीलिए पिटी सी पडी रहती है। मन की तृप्ति की तलाश ही उनकी कहानी की नायिकाओं को विवाहेतर संबंधों की ओर बिना किसी अपराध बोध के प्रेरित करती है। यौन शुचिता की पारंपरिक धारणा अब उन्हें ढकोसला भर लगती है। **एक और विवाह, अगर यों होता, तुक, हरी बिंदी, ग्लेशियर से, कितनी कैदें, तीन किलो की छोरी, मीरा नाची**, आदि कहानियाँ इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय कहानियाँ हैं।

गीता श्री का हाल-फिलहाल प्रकाशित कहानी संग्रह "प्रार्थना के बाहर और अन्य कहानियाँ" इसी लहजे में लिखा कहानी संग्रह है। मृदुला गर्ग के चित्तकोबरा और कृष्णा सोबती के मित्रोमरजानी में जिस तरह की स्त्री-यौनिकता के अकुंठ स्वीकार का विस्फोट हुआ उसी तरह उनकी कहानी "प्रार्थना के बाहर" और "गोरिल्ला प्यार" को देखा जा सकता है। इन कहानियों के स्त्री पात्र सूचना प्रौद्योगिकी युग और यंत्र चालित सी जिन्दगी जीने वाले शहर दिल्ली और एनसीआर गुडगाँव-नोएडा जैसी जगहों में काल सैंटर्स, मीडिया आदि क्षेत्रों में कार्यरत हैं। अक्सर अकेली या किसी संगी-साथी के साथ रहती इन स्त्री पात्रों के लिए यौन-संबंध या सेक्स ना कोई वर्जना है ना कोई बहुत बड़ी बात। वे अपनी शर्तों पर पुरुष मित्र बनाती हैं और अपनी मर्जी से संबंध बनाती और तोड़ती हैं। स्त्री पर पुरुषों द्वारा किए गए अत्याचारों का उसे पूरा अहसास है और उस सबके प्रति एक प्रतिरोध भाव पूरे आक्रामक रूप में कहानियाँ में उभरता है। लेखिका लिखती है- "मुक्ति के लिए छटपटाती हुई स्त्रियों का विलाप शायद मुझे ज्यादा साफ सुनाई देता है। वर्जनाओं के प्रति

उनकी नफरत का अहसास मुझे ज्यादा होता है। रिश्तों के जाल में उलझी, सुरक्षा और सुविधाओं के नाम पर उम्रकैद की सजायापता औरतें मेरी चिंता का विषय हैं।

प्रार्थना के बाहर की प्रार्थना के लिए सेक्स उसकी प्राकृतिक आवश्यकता है। अपने इस सुख को प्राप्त करने के लिए वह किसी भी हद तक जा सकती है। वह पढ़ाई, कैरियर और अपने रति-सुख प्राप्त करने के शौक में तारतम्य बनाए रखती है। उसके लिए यौन-सुख कुंठाओं से मुक्ति का मार्ग है। उसकी सोच इस कथन में व्यक्त है—“ मेरे लिए कोई एक व्यक्ति महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण है मेरा रास्ता...मेरी पसंद...मेरा आनंद...और आनंद का कोई चेहरा नहीं होता...जो जितनी दूर साथ चले..चले..नहीं तो भाड़ में जाए। मैंने किसी से कमिटमेंट ना किया ना लिया।...आई हैव ओनली वन लाएफ एंड आई वांट एक्साइटमेंट विदाउट रिगरेट..दैट्स इट”। अपनी इस स्वच्छंद जीवन शैली से वह गर्भवती भी होती है किन्तु इस बंधन को भी बड़ी सहजता से तोड़ देती है। और ऐसे ही स्वच्छन्द जीवन जीते हुए वह सिविल सर्विसेज मे टाप टेन स्थान पाती है। **गोरिल्ला प्यार** की अर्पिता लिव इन रिलेशनशिप से भी आगे वन नाइट रिलेशनशिप का संबंध बनाती है। अपनी काम भावना को शान्त करने के लिए वह फेसबुक पर साथी तलाशती है। पुरुष की स्त्री पर वर्चस्व स्थापित करने की हिंसक भावना का यहाँ प्रतिरोध दिखाई देता है। इस कहानी में स्त्री के प्रेम और काम संबंध और उसकी स्वतंत्रता के प्रश्न बड़ी बारीकी से अनस्यूत किए गए हैं। “चौपाल” कहानी में पत्रकार शिवांगी अपनी बिंदास आजाद जिंदगी जीती है। “रुकी हुई पृथ्वी” में दाम्पत्य की श्रेष्ठता को बड़ी सुंदरता से दिखाया गया है।

वस्तुतः नारी स्वातंत्र्य को चित्रित करती हुई इन समकालीन लेखिकाओं की कहानियों की खास विशेषता यह है कि स्त्री यौनिकता और अन्तरंग काम संबंधों का चित्रण करते हुए उसमें अश्लीलता नहीं आने देती। हालांकि इस ओर कई कहानियाँ ऐसी भी लिखी गईं जो निरी “देहवाद” का नारा लगाती दिखती हैं। जिनमें ना गहराई है ना कोई उद्देश्य। किन्तु हर देश काल में कुछ थ्रेश लिट्रेचर अर्थात् कूड़ा साहित्य मिलता है। इसको उसी के उदाहरणस्वरूप देखना चाहिये। आज इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक के उत्तरार्द्ध में प्रवेश करने की तैयारी करता महिला कथा लेखन स्त्री अस्मिता के लिए ना सिर्फ

अपने संघर्ष को तीव्र से तीव्रतर रूप में अभिव्यक्त कर रहा है बल्कि वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों में हस्तक्षेप कर अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका भी अदा कर रहा है।

संदर्भ ग्रन्थ

- १— कहानी—नयी कहानी : नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९७३
- २— समकालीन हिन्दी का इतिहास : डा० अशोक भाटिया, भावना प्रकाशन, दिल्ली, २०१२
- ३— समकालीन कहानी के रचनात्मक आशय : यदुनाथ सिंह, ओम प्रकाशन, दिल्ली, १९८७
- ४— कहानी का उत्तर समय, सृजन संदर्भ : पुष्पपाल सिंह, सामयिक बुक्स, नई दिल्ली, २०१३
- ५— प्रार्थना के बाहर और अन्य कहानियाँ : गीता श्री, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण २०१३

डॉ. अनुराधा गुप्ता

असिस्टेंट प्रोफेसर (तदर्थ), हिन्दी विभाग

कमला नेहरू कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

मोबाइल नं. : 9968253219

ई-मेल: anuradha2012@gmail.com

स्वामित्व एवं अन्य विवरण
एकेडेमॉस 2015
प्रपत्र - XVI

प्रकाशन स्थल	:	कमला नेहरू कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय
प्रकाशन समयावधि	:	वार्षिक
मुद्रक	:	निर्मल सिंह ग्राफिक डिज़ाइनर
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	निर्मल सिंह ग्राफिक डिज़ाइनर ऑफिस नं. 1, नीति बाग नई दिल्ली-110049
प्रकाशक	:	डॉ. मिनौती चैटर्जी (प्राचार्या)
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	कमला नेहरू कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय
सम्पादक	:	डॉ. सुषमा सहरावत
सह-सम्पादक	:	डॉ. अनुराधा गुप्ता
राष्ट्रीयता	:	भारतीय
पता	:	कमला नेहरू कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय
स्वामित्व	:	प्राचार्या कमला नेहरू कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय नई दिल्ली-110049

मै, मिनौती चैटर्जी, घोषित करती हूँ कि ऊपर दिए गए सभी विवरण मेरी जानकारी के अनुसार सही हैं।

अप्रैल 2015

डॉ. मिनौती चैटर्जी
(प्रकाशक के हस्ताक्षर)

